

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186495

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H049.9143

Call No.

553N

Accession No.

H. 2775

Author

शर्मा, नलिनबिलोचन- संप.

Title

मिषण्डमानस .

This book should be returned on or before the date last marked below.

निबन्ध की बातें

निबंध और

व्यक्तिगत

निबंध

संस्कृत शब्द 'निबंध' का शाब्दिक अर्थ 'बाँधना' या 'सँवार कर सीना' है। प्राचीनकाल में हस्तलिखित ग्रन्थों के बाँधने या सीने के प्रसंग में इस शब्द ने रूप ग्रहण किया। इसी परिवार का एक दूसरा शब्द 'प्रबंध' भी अति प्राचीन है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दोनों ही बंधन के द्योतक हैं पर व्यवहार में 'प्रबंध' का क्षेत्र निबंध की अपेक्षा अधिक व्यापक रहा और उनमें अनेक मतों का संग्रह होता रहा। 'हिन्दी शब्द-सागर' ने भी इस शब्द का अर्थ 'वह व्याख्या' माना है 'जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो'। इस परिवार का तीसरा शब्द है 'लेख' जिसका मूल अर्थ 'लिखा हुआ' होता है। यों अंग्रेजी के Essay, Treatise और Article के लिये क्रमशः निबंध, प्रबंध और लेख का प्रयोग हो सकता है, पर व्यवहार में उपर्युक्त सभी प्रकार के गद्यविधानों को निबंध कह दिया जाता है। सो, 'निबंध' आज एक बहुव्यापक शब्द बन गया है। ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-उपनिषद्, साहित्य, राजनीति इत्यादि किसी भी विषय पर प्रस्तुत भाव-गुंफन को निबन्ध कह सकते हैं। पोप की आलोचनात्मक छंदोबद्ध रचना और भारतेन्दु के भाषण तक को निबंध की संज्ञा मिल चुकी है।

किन्तु अब पाश्चात्य साहित्य में 'निबंध' (Essay) शब्द वैयक्तिक अनुभूतियों पर आश्रित एक ऐसे गद्यविधान के लिये रूढ़ हो गया है

जिसे व्यक्तिगत निबंध (Personal Essay) कहते हैं। मराठी में 'व्यक्तिगत निबंध' के लिए 'ललित निबंध' का प्रयोग चल पड़ा है। प्रो० फड़के का 'नवें लेंगे' ऐसे ही 'ललित निबंधों' का प्रसिद्ध संग्रह है। अंग्रेजी 'विश्वकोष' (Encyclopaedia Britannica) में निबंध की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'साहित्यिक रूप के लिहाज से निबन्ध औसत लम्बाई की साधारणतः गद्य में की गई एक ऐसी रचना है जिसमें किसी विषय पर सरल एवं स्वच्छन्द ढंग से विचार किया गया हो और जिसमें विषय का प्रतिपादन उसी रूप में किया गया हो जिस रूप में उसने लेखक को प्रभावित किया है।'^१ इस व्याख्या से दो बातें स्पष्ट होती हैं: एक तो यह कि व्यक्तिगत निबंध आत्मनिष्ठ (Subjective) होता है, न कि वस्तुनिष्ठ (Objective), और दूसरी यह कि प्रतिपाद्य वस्तु की गौणता के कारण प्रतिपादन-शैली प्रमुख एवं स्वच्छन्द होती है।

इस प्रकार के गद्य-विधान का आरम्भ फ्रांस में हुआ और उस देश के विख्यात साहित्यकार मोतेन (Montaigne) इसके आदि लेखक हुए। मोतेन ने ऐसे निबंधों को 'आत्मा के संवाहन का प्रयत्न'^२ कहा है। उन्होंने निबंध को आत्मा का संवाहन कहकर उसकी आत्मनिष्ठता को आत्मकथा की कोटि में ला दिया है। अपनी सफाई में वे कहते हैं कि अपने निबंधों का विषय मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही तो एकमात्र वह व्यक्ति हूँ, जिसे मैं भली-भाँति जानता हूँ।^३ इस प्रकार मोतेन के अनुसार

1. As a form of literature, the essay is a composition of modest length, usually in prose, which deals in an easy, cursory way with a subject and in strictness, with that subject only as it effects the writer.

2. These essays are an attempt to communicate the soul.

3. I am the subject of my essays because I myself am the only person whom I know thoroughly.

निबन्ध का उद्देश्य केवल आत्मनिवेदन है। इस आत्मनिवेदन की प्रक्रिया में कोई न कोई मनःस्थिति (Mood) काम करती है। उसीकी मनःस्थिति के अनुरूप निबन्ध व्यंग्यपूर्ण, विनोदात्मक अथवा गम्भीर हो जाता है। लेखक को इस मनोदशा और उससे उत्पन्न लेखन की आत्मनिष्ठ, स्वाभाविक एवं स्वच्छंद पद्धति को ध्यान में रखकर अंग्रेजी के समर्थ आलोचक और निबन्धकार डॉ० जॉनसन ने निबन्ध को 'शृंखलित एवं सुव्यवस्थित रचना' न मान कर उसे 'मन का एक हठात् अस्तव्यस्त आक्रमण' तथा 'एक अव्यवस्थित अधपका संदर्भ' कहा है।^१ निबन्ध में आत्मचिंतन की प्रधानता होती है, आदर्श वा संदेश का आग्रह नहीं। इसी तत्व को ध्यान में रख कर किसीने निबन्ध को 'भोजनोपरान्त का स्वगत' (After dinner monologue) और किसी ने निबन्धकार को 'आराम कुर्सी में पौड़ा हुआ दार्शनिक' (philosopher in an easy-chair) कहा है। थैकरे ने इस प्रकार के निबन्ध को 'चक्करदार लेख' (Round-about paper) कहा है, क्योंकि वह वर्ण्य विषय को केन्द्र में रख कर विशेष मनोदशा में स्थित व्यक्तित्व के सहारे विषय के चारों ओर दूर-दूर चक्कर काटता रहता है। निबन्धकार बेकन के 'बिखरे चिन्तन' (Scattered meditation) को इसी मानी में निबन्ध समझा जा सकता है। निबन्ध को विशेषता उसके वर्ण्य विषय में नहीं, क्योंकि कोई भी विषय उसके लिए पर्याप्त होगा, वरन् लेखक के व्यक्तित्व के आकर्षण में है।^२ प्रोस्टले के शब्दों में निबन्धकार का विषय होता ही नहीं, संसार में जितने भी विषय सम्भव हैं सभी उसके बंदे हैं। इसका साधारण कारण यह है कि लेखक का काम अपनी या अपने एवं विषय के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति

1. The essay is a loose sally of the mind, an irregular undigested piece, not a regular and orderly composition.

2. The point of the essay is not the subject, for any subject will suffice, but the charm of personality.—
A. C. Benson.

करना है। 'वह निबन्ध के एक-एक मुहावरे को व्यक्तित्व में पगा देखता है।' आत्म-निवेदन की यह भावना, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, मन-स्थिति की प्रधानता निबन्ध को गीतिकाव्य के निकट ला देती है। इसलिए निबन्ध को 'गद्यगीत' (Lyric in prose) भी कहा गया है। स्मिथ ने निबन्ध के गीति-साम्य पर विचार करते हुए लिखा है कि 'साहित्य-रूप के विचार से निबन्ध गीतिकाव्य से मिलता-जुलता है, उस हद तक जिस तक वह किसी केन्द्रीय मन-स्थिति-अकारण गम्भीर अथवा व्यंग्यपूर्ण—से उत्प्रेरित रहता है। मन-स्थिति को रूप दीजिए और निबन्ध प्रथम वाक्य से अन्तिम तक उसके चतुर्दिक् उठ खड़ा होगा, जैसे रेशम के कीड़े के चारों ओर रेशम उगता जाता है।' ¹³ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक निबन्ध की पाश्चात्य व्याख्या पर विचार करते हुए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।'

1. But the real essayist has no subject or if you will, has every subject in the world at his command, for the simple reason that his business is to talk about himself or to express the relations between any subject and himself.

2. The true essay approximates to familiar talk and the essayist is the brilliant and self-revealing conversationalist whose every phrase is salted with personality.

3. The essay as a literary form resembles the lyric, in so far as it is moulded by some central mood—whimsical, serious or satirical. Give the mood and the essay from its first sentence to the last goes round it, as the cocoon grows around the silk-worm.

निबन्ध की विशेषताएँ

ऊपर की व्याख्याओं और परिभाषाओं के आधार पर, स्थूल रूप से, अब निबन्धों की विशेषताएँ बतलाई जा सकती हैं। मोटे तौर पर वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. व्यक्तिगत निबन्ध में निबन्धकार के व्यक्तित्व की सर्वथा प्रधानता होती है। निबन्ध आत्मनिष्ठ होता है।

२. इसमें किसी-न-किसी मनःस्थिति की प्रेरणा रहती है।

३. व्यक्तित्व और मनःस्थिति की दूरी से लिखित होने के कारण निबन्ध में विषय के विकास-क्रम और विचारों की शृंखला का अभाव रहता है और मनःस्थिति के अनुरूप गम्भीरता, व्यंग्य, विनोद इत्यादि रागात्मक तत्वों का बाहुल्य।

४. इसमें शैली की प्रधानता रहती है और उस शैली में कृत्रिम उपादानों का बहिष्कार एवं बातचीत के ढंग की स्वीकृति रहती है।

५. इसका आकार-प्रकार महाकाव्य एवं उपन्यास से न मिल कर शब्दचित्र (Sketch) अथवा गीति (Lyric) से मिलता-जुलता है।

१५७१ ई० निबन्ध-साहित्य के इतिहास में एक पश्चिम में महत्वपूर्ण तिथि है, क्योंकि उसी साल मार्च महीने व्यक्तिगत निबन्ध में फ्रांस निवासी मोंतेन ने पहला व्यक्तिगत निबन्ध का विकास-क्रम लिखा था। मगर जिस निबन्ध का आरम्भ फ्रांस में हुआ, उसका विकास हुआ इङ्ग्लैंड में। इस सम्बन्ध में फ्रांस के एक साहित्यकार आरलो विलियम्स ने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है। उसने कहा कि फ्रांस के निवासियों के स्वभाव की अपेक्षा इङ्ग्लैंड निवासियों का स्वभाव निबन्ध-लेखक की मनोवृत्ति के अनुकूल है। अंग्रेजी के प्रथम निबन्धकार होने का श्रेय बेकन को है। पर

मोतेन की तरह वे प्रतिपाद्य विषय को सर्वथा गौण नहीं रख सके। बेकन के निबन्ध गवेषण-विवेचन, तर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण से भरे हैं, उनमें व्यक्तित्व की प्रधानता नहीं है। मोतेन साहित्यिक थे, बेकन विचारक। इस कारण बेकन के निबन्धों में मोतेन की आत्मीयता नहीं आ सकी। मोतेन में अनुभव है, बेकन में अनुशीलन। कॉउले और विलियम टेम्पेल अवश्य मोतेन के पथ पर चले। डॉ० जानसन अंग्रेजी निबन्ध-साहित्य में एक नया दिशानिर्देश लेकर आये। वे स्वभाव से गम्भीर थे। गम्भीर निबन्ध लिखते-लिखते वे बोलचाल को भी गम्भीर बना चुके थे। स्टील और एडीसन की जोड़ी को भी नहीं भुलाया जा सकता। अपने समय के ये अत्यन्त लोक-प्रिय निबन्ध लेखक थे। दोनों ने अपने निबन्धों में चरित्र-चित्रण और चारित्रिक समस्याओं को विशेष महत्व दिया। दोनों में हास्य-व्यंग्य की सजीवता थी और दोनों की शैली में बातचीत की स्वाभाविक लय भी थी। एक प्रकार से १७वीं और १८वीं शताब्दियों के समस्त निबन्धों में सामान्य रूप से कथात्मकता, चारित्रिक विवेचन और सुधार-प्रवृत्ति की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। १९वीं शताब्दी अंग्रेजी निबन्ध साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काल कहा जाता है। इस काल के प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं— राबर्ट लुई स्टीवेन्सन, गोल्डस्मिथ, हैजलिट, ले हण्ट, इमर्सन, चार्ल्स लैम्ब, मैथ्यू आर्नल्ड, मैकॉले इत्यादि। स्टीवेन्सन इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध को प्रभावित करने वाले प्रथम श्रेणी के निबन्ध-लेखक थे। उनके निबन्धों में अनुभूतिविह्वल व्यक्तित्व की मोहक अभिव्यक्ति हुई है। गोल्डस्मिथ जिस पथ पर चले उसमें अनेक सम्भावनाएँ थी पर उनके उद्घाटन का श्रेय, उस पथ को अत्यन्त परिष्कृत रूप में उपस्थित करने वाले चार्ल्स लैम्ब को मिला। स्वप्नों और कल्पनाओं को सत्यवत् अनुभव कराने वाली निश्छलता से लैम्ब ने अपने समय के पाठकों को चमत्कृत कर दिया था और वस्तुतः लैम्ब की यह उपलब्धि

अन्यतम है। हैजलिट और ले हन्ट दोनों एक ही समय साहित्य में उतरे। मगर हैजलिट निराला निकला। उसके निबन्ध 'आत्म-कथात्मक' तो थे, पर मधुर नहीं। उसमें दार्शनिकता भी थी और रोष-पूर्ण चोट भी। वह एक ओर बेकन था और दूसरी ओर लैम्ब। अंग्रेजी निबन्ध लेखकों के राजकुमार लैम्ब की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ उसे नहीं मिली पर उसकी आभापूर्ण शैली दूसरों को न मिल सकी। ले हन्ट ने भी अनेक प्रयोग किये। इमर्सन, मैथ्यू आर्नल्ड और मैकाले प्राचीन आदर्शों के निकट होते हुए भी भावुकता और वैयक्तिक कल्पनाओं के कारण आधुनिक बने रहे हैं। मैकाले ने अपेक्षाकृत बड़े-बड़े निबन्ध लिखे।

परवर्ती काल के निबन्धकारों में एच० जी० वेल्स, जी० के० चेष्टरटन, इ० वी० ल्यूकस, लास्की, लिण्डमैन, गार्डिनर प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी निबंधों का हिन्दी निबन्धों का आरम्भ-काल भारतेन्दु-युग

विकास है। भारतेन्दु-काल के प्रमुख निबन्धकार हैं—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बद्रीनारायण 'प्रेमघन', पं० प्रताप नारायण मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी, लाला श्रीनिवास दास, बाबू सीताराम, मुंशी ज्वाला प्रसाद, अम्बिकादत्त व्यास, केशव राम भट्ट इत्यादि। भारतेन्दु इस युग के पारस थे। युग की समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों में उनका ही व्यक्तित्व था। उन्होंने अनेक प्रकार के विचारात्मक, वर्णनात्मक और भावात्मक लेख लिखे। उनके नाटकों की तरह उनके निबन्धों में भी उनकी मार्मिक आत्मकथा प्रतिभासित है। दुराव-हीनता भारतेन्दु के निबन्धों की विशेषता और आकर्षण है। 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' कथात्मक प्रणाली के साथ स्वप्न शैली को (जिसमें स्वप्न

के माध्यम से मन के उच्छ्वास का चित्रण होता है) उपस्थित करता है— एडिसन के 'दी विजन ऑफ मिरजा' की तरह। पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र की युगलमूर्ति अंग्रेजी के एडिसन और स्टील की याद दिलाती है। स्टील और एडिसन की तरह ये दोनों भी पत्रकार थे। यदि उनका सम्बन्ध 'स्पेक्टेटर' से था तो इनका 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' से। हुयूज वाकर ने कहा था कि एडिसन में बौद्धिकता की प्रधानता है और स्टील में हृदय-पक्ष की। तुलना यहाँ भी सटीक उतर आती है। भट्ट जी में मस्तिष्क का तर्क प्रबल है, मिश्र जी में हृदय पक्ष। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही भट्टजी की तुलना एडिसन से और प्रतापनारायण मिश्र की स्टील से की थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश लेखक पत्रकार या पत्रों में लिखनेवाले थे। और, यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो उनकी रचनाएँ 'लेख' ज्यादा हैं, 'निबंध' कम।

हिन्दी निबंधों के आरम्भकर्ता सही मानी में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र हैं। भट्ट जी ने साधारण से साधारण विषयों—जैसे नाक, कान, आँख, पैसा, नही, बातचीत, इंगलिस पढ़ें सो बाबू होय, पसंद, माँ, आँसू, इत्यादि से लेकर असाधारण से असाधारण विषयों जैसे 'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं', 'ईश्वर भी क्या ठगोल है', 'भकुआ कौन-कौन है' इत्यादि तक पर बड़े आत्मीय और विशेष ढंग से लिखा है। उनके निबंधों में शब्द-चित्र का चमत्कार, अनोखी सूझ और भाषा का चमकदार प्रवाह है। उन्होंने निबंधों के अनुरूप शब्द और मुहावरे गढ़े भी थे। जैसे 'मुन्दरापा', 'बेबनावट', 'मरपच साहित्य', 'टटके-टटके' इत्यादि। पं० प्रतापनारायण मिश्र एक फकड़ जीव थे, पर जाननेवाले जानते हैं कि उनका यह फकड़पन कितनी विपदाओं से घिरा था। उनका यही स्वभाव उनके निबंधों में उतर आया है। चाहे 'मनोयोग' 'हमारी आवश्यकता', 'नारा' आदि जैसे गम्भीर विषय हों, चाहे 'धूरे के लत्ता बिनै', 'होली', 'आप', 'तिल', 'माँ', 'और', आदि जैसे

समसामयिक और काल्पनिक विषय हों, हास्य और विनोद की फुलझड़ियाँ और फव्वारे बीच-बीच में पाठकों को लोट-पोट कर ही देंगे। स्टील की तरह तर्कों के बीच उनकी हार्दिकता उमड़-उमड़ आती है। इसके अतिरिक्त उनके निबंधों में व्यक्तित्व-प्रधान निबंधों की दो अन्य विशेषताएँ मिलेंगी। एक तो यह कि वे अपने निबंधों के विभिन्न नामधारी पात्रों में स्वयं उपस्थित रहते हैं और इस कारण सर्वत्र आत्मीयता बनी रहती है तथा दूसरी यह कि उनकी भाषा का स्वच्छंद प्रवाह लोक-जीवन के मुहावरों और रोजमरों के सहारे पाठकों को निकट ले आता है और रचना को एक स्थानीय रंग दे जाता है। 'धोखा' 'होली' इत्यादि निबन्धों में भावों और विचारों के चक्र (diversions) भी खूब हैं।

'प्रेमघन' के निबन्ध अपेक्षाकृत कम और वर्णनात्मक हैं, जैसे पावस, ऋतु-वर्णन, फाल्गुन इत्यादि। हाँ, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बालमुकुन्द गुप्त ने शिवशम्भू शर्मा के नाम से 'भारतमित्र' में चिट्ठे लिख कर निबन्ध को एक नयी गति दी। उनके निबंध 'शिवशम्भू के चिट्ठे और खत' के नाम से पुस्तकाकार छपे हैं। इन निबंधों में उनका व्यक्तिगत मौजा और मस्ताना दृष्टिकोण दर्शनीय है। उनके अनुकरण में हिन्दी-पत्रिकाओं में व्यंग्य-विनोद-पूर्ण पत्रों और चुटकुलों की एक परिपाटी-सी चल पड़ी और आज तक बदस्तूर चल रही है।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ द्विवेदी-काल से होता है। इस काल के प्रमुख लेखक हैं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० माधव मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', श्री गोपाल राम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय इत्यादि। इस काल के निबन्धों और भारतेन्दु-काल के निबन्धों में विशेष अन्तर नहीं। हाँ, इस युग के निबन्ध पूर्वकालीन विनोद के स्वर को छोड़ कर निश्चयात्मकता एवं विवेचनात्मकता के

अंगीकार करने लगे हैं और साथ ही इनकी भाषा भी स्थिर-सी है। द्विवेदी जी के निबन्ध त्रिचारात्मक एवं व्यासशैली में लिखे गये हैं। आपने करीब २५० निबन्ध लिखे हैं। इतने निबन्ध अब तक किसी ने नहीं लिखे थे। उनके निबन्धों के संग्रह हैं 'विचार-विमर्श', 'रसज्ञ-रंजन', 'रेखांजलि' 'समालोचना समुच्चय', 'आलोचनांजलि' इत्यादि। पद्मसिंह शर्मा एक शैलीकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं और प्रायः कृत्रिम शैली के प्रसंग में उनका उदाहरण दिया जाता है। पर यही शैली उनकी विशिष्टता है। इसमें जगह-जगह बड़ी चंचल भंगिमाएँ हैं। उनके निबन्धों का संग्रह 'पद्मपराग' है। गुलेरी जी के निबन्ध 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' प्रसिद्ध हैं। गुलेरी जी शैली के चटपटापन से नीरस विषयों में भी जान डाल देते थे। वे विवेचनात्मक निबन्धों में भी हास्य और शास्त्रीयता का अद्भुत मिश्रण कर देते थे। गहमरी जी ने उपन्यासों के साथ कुछ निबन्ध भी लिखे हैं, जो भावनात्मक हैं। उनके निबन्धों की विशेषता विषयानुरूप भाषा है। ब्रजनन्दन सहाय के निबन्धों में अनुभूति की वह तन्मयता है जो पाठक को भावविभोर कर देती है। उनके निबन्धों में काव्य की तरंगें उठती रहती हैं।

परवर्तीकाल के निबन्धकार हैं रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पूर्ण सिंह, धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य रामलोचनशरण, आचार्य शिवपूजन सहाय, पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बनारसी दास चतुर्वेदी, सदगुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्र कुमार, गुलाब राय, नन्ददुलारे बाजपेयी, महादेवी वर्मा, नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीकांत झा, माखनलाल चतुर्वेदी, डा० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी, नवलकिशोर गौड़, केसरी कुमार,, प्रो० कपिल, श्रीनरेश, शिवचन्द्र शर्मा, डा० रघुवीर सिंह, विद्यानिवास मिश्र इत्यादि। शुक्ल जी और श्यामसुन्दर दास से तो सभी परिचित होंगे। पूर्ण सिंह ने थोड़ा लिखा है पर जो कुछ

लिखा है, हृदय की सजलता से। उनके निबन्धों में भाषा जैसे आत्मा से छन कर निकली हुई है, वह काव्यात्मक और फिर भी अनिवार्यतः स्वाभाविक है। उनके निबन्धों का अन्तरंग आध्यात्मिक भावुकता से बना है। गुलाबराय जी का निबन्ध-संग्रह 'मेरी असफलताएँ' व्यक्तिगत-निबन्धों का एक अच्छा संग्रह है। बख्शी जी का भी हिन्दी के व्यक्तिगत-निबन्ध-साहित्य में विशिष्ट स्थान है 'दूर के ढोल सुहावने', 'क्या लिखूँ', 'रामलाल पंडित', 'नही' इत्यादि उनके महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत निबन्ध हैं। बख्शी जी के निबन्धों में प्रायः दो विरोधी बातों का आश्चर्यजनक समन्वय मिलेगा—व्यंग्य, पर कटुता नहीं ! तथा गीतिकाव्य की भंगिमा पर पहले दर्जे की सरलता। सियारामशरण गुप्त भी उत्कृष्ट व्यक्तिगत-निबन्धकार हैं। हिन्दी-साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन निबन्ध संग्रह 'भूठ-सच' है। इन निबन्धों में कहानी का वस्तु-आकर्षण, कविता का उच्छ्वास और उपन्यास का विस्तार है। सब मिला-जुला कर ये निबन्ध बड़े सफल और मनोरम हो गए हैं। हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का निबन्ध संग्रह 'अशोक के फूल' भी अपने ढंग का अनूठा है। द्विवेदीजी उन विरले व्यक्तियों में हैं जो संस्कृत को गलाकर हिन्दी को सँवार सके हैं; जिन्हें संस्कृत के ज्ञान-भंडार से ही नहीं, अपितु शैली से भी बर मिठा है। अनुभव और अध्ययन का ऐसा मेरु शायद ही कहीं मिले। चुटकुते, संस्मरण और काव्य का संयोग भी विचित्र हैं। और सबके भीतर से उभड़नेवाला मार्मिक विवेचन जैसे निबन्धों का जलपूर्ण आकाश है। जैनेन्द्र जी के निबन्ध लगभग सब-के-सब व्यक्तिगत हैं, क्योंकि चाहे कैसा भी निबन्ध हो, वे उसे कहानीकार की मुद्रा में लिखेंगे, जैसे वे किसी से बात कर रहे हों। प्रभाकर माचवे का हाल में प्रकाशित व्यक्तिगत निबन्धों का संग्रह 'खरगोस का सींग' है। शिवपूजनजी 'मतवाला' में 'अगिया बैताल' के छद्मनाम से जो हास्य-विनोद व्यंग्य-पूर्ण निबन्ध लिखते रहे, उनका एक संग्रह 'दो घड़ी' से नाम से प्रकाशित हो चुका है। शिवजी की शैली में वह काट है जो लेखक की प्रभुता बतलाती है।

मस्ती, अनुभूत भाव और वर्णन की सटीकता इन निबन्धों की विशेषताएँ हैं। लक्ष्मीकांत झा ने तो हिन्दी को व्यक्तिगत निबन्ध की एक नयी शैली देने का दावा ही किया है, क्योंकि अपने निबन्ध संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'इन निबन्धों के द्वारा मैंने हिन्दी में एक नयी ही शैली का प्रयोग किया है। ये निबन्ध उस शैली के हैं जिसमें अंग्रेजी के व्यक्तित्वप्रधान निबन्ध हुआ करते हैं।' माखनलालजी अपने निबन्ध संग्रह 'साहित्य-देवता' में अन्योक्ति पद्धति पर लिखे गये निबन्धों के रचयिता के रूप में आये हैं। डा० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी, नवलकिशोर गौड़, श्री नरेश और शिवचन्द्र शर्मा ने व्यक्तिगत निबन्ध थोड़े लिखे हैं, पर जो लिखे हैं वे अत्यन्त महत्वपूर्ण और हिन्दी के लिये दुर्लभ हैं। प्रो० कपिल का निबन्ध संग्रह 'बारह बाते' है जिसमें विविध प्रकार के निबन्ध संगृहीत हैं।



सोना

[बालकृष्ण भट्ट]

मैं समझता हूँ, सोने के समान दूसरा सुख कदाचित् न होगा। भाँति-भाँति के व्याधि-ग्रस्त मनुष्य-जन्म में यदि कोई सच्चा सुख संसार में है तो सोने में है। किन्तु वह सुख तभी मिलता है जब सोने का ठीक-ठीक उपयोग किया जाय। इस सोने को आप चाहे जिस अर्थ में लीजिये, निद्रा या धन, बात वही है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि रात को सोना मन को मनमाना मिल सकता है, धातुवाला सोना सबके पास उतने ही अन्दाज से नहीं आता। दूसरे, यह इतने परिश्रम से मिलता है कि दाँतों पसीने आते हैं। हम अपने विचार-शील पढ़नेवालों से पूछते हैं, सोने के इन दो अर्थों में आप किसे अच्छा समझते हैं? क्यों साहब, रातवाला सोना तो अच्छा है न? इसलिये कि यह कंगाल या धनी, सबको एक-सा मयत्सर है। धनी को मख-मली कोच पर जो निद्रा आवेगी कंगाल को वही कंकड़ों पर।

जो प्रकृति-जन्य पदार्थ हैं उनके मुकाबले कृत्रिम और बना-वटी की कोई कदर नहीं है; जैसे मलयाचल के त्रिविध समीरण के आगे खस की टट्टियों से आती हुई ठंडी हवा को कभी आप

अच्छी न कहियेगा । किन्तु फिर भी, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, सोने के ठीक-ठीक उपयोग ही से सब सुख मिल सकते हैं; इसके ठीक-ठीक उपयोग में गड़बड़ हुआ कि यही सोना आपका जानी दुश्मन हो जायगा और सकार के स्थान में आपको रकार सूझने लगेगा; पर कफायत और उचित बर्ताव इसके साथ रखिये तो सोने और सुगन्धवाली कहावत चरितार्थ होगी । एक सोनेवाला जुआरी एक बार बहुत-सा रुपया हार गया तो बोला, “क्या परवाह, दूसरे दाँव में इसका दूना जीत लूँगा,” पर दूसरी बार जुए में जो कुछ पल्ले का था सो भी निकल गया । ऐसा ही एक सोनेवाला विद्यार्थी बड़ा होने पर बहुधा अपने मित्रों से कहा करता, “मैं जवानी में सोकर इतनी देर से उठता था कि आज हिसाब लगाता हूँ तो ३० वर्ष में २२ हजार के लगभग धंटे मैंने बेफायदे खोये ।” याद रहे, अगर आप रातवाले सोने का वाजिबी बर्ताव करने रहोगे तो धातुवाला सोना आप-से-आप आ मिलेगा । निश्चय जानिये, मनुष्य के लिये कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है यदि चित्त देकर हम उसे लिया चाहें । सोना वह वस्तु है कि इससे रोगियों का रोग, दुखियों का दुःख, थके हुएों की थकावट जाती रहती है । वैद्यकवाले लिख भी गये हैं :—

“अर्द्धरोगहरी निद्रा सर्वरोगहरी क्षुधा”

घोर सन्निपात हो गया, रोगी दिन-रात तड़प रहा है, एक क्षण भी कल नहीं पड़ती, दस मिनट के लिये झपकी आ गई;

रोग आधा हो जाता है; जीने की आशा बँध जाती है। अस्तु, यहाँ तक हमने मिलाके कहा, अब अलग-अलग लीजिये। रात को बिना सोये बादशाह को भी आराम नहीं पहुँचता। सारी दुनिया का सोना चाँदे घर में भरा हो, जबतक न सोइये चैन न पाइयेगा। सब दौलत और माल-असबाब को ताख पर रख दीजिये और इस आरामदेह फरिश्ते के जरूर कैदी बनिये। अगर किसीका दिल सैकड़ों झंझटों-फिक्रों के बोझ से लदा हुआ है, यहाँ तक कि उस बोझ को अलग फेंक घड़ी-आध-घड़ी कहीं किसी पेड़ की ठंडी छाया में बैठ सीरी वयार का सेवन कर थोड़ा विश्राम करने का भी ममय नहीं मिलता, तो ऐसे अभागे को इस फरिश्ते की हवालत में भी, जहाँ जीव-मात्र को आराम और स्वास्थ्य मिलता है, उसी तरह की बेचेनी और बेकरारी रहेगी। तात्पर्य यह कि सच्ची गाढ़ी नींद उन्हींको आती है जिनके दिलों में कोई गैरमामूली शिकायत नहीं रहती। बहुधा देखने में आता है ऐयाश, शराबखोर देर से सोने हैं और देर से उठते हैं। इसीके विरुद्ध विद्याभ्यासी १२ या १ बजे तक किताबों के साथ आँख फोड़ा करते हैं और चार ही बजे उठ खड़े होते हैं। कितने ऐसे सुखिया जन हैं जिनको नींद बहुत जल्द आती है; कितने दरिद्र भी हैं जो दिन-रात मोया करते हैं। फिर भी नींद के बोझ से हरदम लदे ही रहते हैं। बहुतेरे ऐसे भी सौभाग्यशाली हैं जिनको स्वभाव ही से बहुत कम नींद आती है और ऐसी को इस तरह का जगना स्वास्थ्य में कोई

हानि नहीं पहुँचाता । परन्तु अधिकांश ऐसे हैं जिनको यह गैर-मामूली जागना बहुत ही हानि पहुँचाता है । कम सोना जैसा नुकसान पैदा करता है वैसा ही अधिक सोना भी । और फिर रात में देर से सोने का जैसा बुरा असर तन्दुरुस्ती पर होता है उससे अधिक भोर को उठने का होता है; विद्यार्थी के लिये देर से उठने का परिणाम अत्यन्त हानिकारक है, मनु ने तो सूर्योदय में सोने को यहाँ तक निषिद्ध कहा है कि जिसके सोते हुए सूर्य निकल आवें उसे चाहिये दिन भर उपवास करे और गायत्री का जप करता रहे । जो लोग पहले सबेरे उठते थे पर पीछे देर तक सोने की आदत में पड़ गये उन्हें याद रहे कि सूर्योदय के पहले उठ जरा बाहर की तरफ दहल आने में कैसा सुख मिलता था; अहा ! उस समय प्रातःपरिभ्रमण से चित्त को कैसी शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त होती है; उषा देवी के प्रसाद का अनुशीलन करनेवाली स्वच्छ शीतल वायु; वनस्पतियों पर मोती सदृश ओस के विन्दु; पखेरुओं का कलरव, अरुण किरण के मिस मानों लाल झालर टँकी हुई आकाश-वितान की अनूठी छवि, दिशाओं की मनोहरता मन को प्रमोद, प्रत्येक अङ्ग में रोम-रोम को कैसी फुर्ती और सन्तोष देती हैं ! वही छै घड़ी दिन चढ़े तक, खाट तोड़नेवाले के मन और शरीर में कैसा आलस्य, शास्त्र्य और शैथिल्य तथा सुस्ती छाई रहती है कि सम्पूर्ण दिन का दिन नष्ट बीतता है ।

माघ कवि ने शिशुपाल-वध के ग्यारहवें सर्ग में प्रातःकाल

का बड़ा ही अनूठा वर्णन किया है, जिसके पढ़नेवाले को प्रातः परिश्रमण का पूर्ण अनुभव घर बैठे प्राप्त हो सकता है।

अब धातुवाले सोने को लीजिये जिससे हमारा प्रयोजन धन से है। संसार के बहुत कम व्यवहार ऐसे हैं जिनमें इसका काम न पड़ता हो; क्या फकीर क्या अमीर, राजा से रंक तक सब इसकी चाह में दिन-रात व्यग्र रहते हैं।

इस सोने के लालच में पड़ मनुष्य कभी वह काम कर गुजरता है जिससे उसकी मनुष्यता में घब्बा लग जाता है, इस कारण सब लोग सोने ही को दोष देते हैं। अर्थात् पाप-कर्म करनेवाले को तो सब बचाते हैं और उस पाप के कारण सोने को, जो जड़ पदार्थ है, सम्पूर्ण अधर्म और अन्याय का मूल समझते हैं। सोने के बल आदमी राई को पर्वत और पर्वत को राई कर दिखाता है, किन्तु संसार और सब वस्तुओं के समान यह भी क्षणभंगुर है। बराबर देखते-सुनते चले आये हैं कि लक्ष्मी चंचला है और एक पति से सन्तुष्ट नहीं रहती। जिस राह में इसे डालिये सोना एक बार अपना पूर्ण वैभव प्रकाश कर देगा, पर अफसोस, नेक राह में यह बहुत ही कम डाला जाता है। कोई विरले विरक्तों की तो बात ही न्यारी है, नहीं तो संसार के असार प्रपंचों में आसक्त जन, इसके लिये कोई ऐसा धिनौने से धिनौना काम नहीं बच रहा, जिसे न कर गुजरे हों; कहाँ तक कहें, इसके लिये भाई-भाई कट मरते हैं, बाप बेटे

की जान ले डालता है। तवारीखों में कई एक राजा और बादशाह इसके उदाहरण हैं। किसी अँगरेजी के कवि का कथन है—

For gold his sword the hireling ruffian draws;
For gold the hireling Judge distorts the Laws;
Wealth heaped on wealth nor truth nor safety
buys,

The dangers gather as the treasures rise.

यद्यपि कलह के तीन कारण कहे गये हैं जर, जमीन, जन; पर सच पूछो तो सब बिगाड़ का असल सबब सिर्फ जर है। हमारा हिन्दुस्तान इस सोने ही के कारण छार में मिल गया। हमारे बेफिक्र होकर सोने से हमारे अपरिमित सोने पर इतर देशीय म्लेच्छगण बाज और चील की तरह आ दूटे, लाखों मनुष्यों की जानें गईं। अब तो यहाँ सोने की जगह धूल फाँकना है—‘सिद्धि रही सो गोरख ले गये खाक उड़ावें चले।’

अस्तु, इन सब बातों से हमें क्या ? सोना निरसन्देह संसार में सार पदार्थ है, यदि सोनेवाला स्वयं सारग्राही हो और उसे नेक्री में लगावे। उसमें एक यह अद्भुत बात देखने में आई कि पर्वत के सैकड़ों स्रोतों से नदी के झरने की भाँति जब यह आने लगता है, तो सैकड़ों द्वार से आता है और बहुत-से काम सब एक

साथ आरम्भ हो जाते हैं। इधर जेवर पर जेवर पिटने लगे, उधर पक्का आलीशान मकान बनने लगा, सवारी, शिकारी, अमीरी ठाठ सब ठठने लगे।

जब यह जाने को होता है तो सब चीज ऊपर से देखने को यथास्थित बनी रहती हैं, पर गजभुक्त-कपित्थ सदृश भीतर ही भीतर पोली पड़, टाट उलट, मुँह बाये रह जाती हैं।



धोखा

[प्रतापनारायण मिश्र]

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच को सुवर्ण मृग समझ लिया था, तो हमारी-आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायँ? वरंच ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार-निर्विकार रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है; सो भी एक रीति से नहीं रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है। उसके लिये उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है और धोखे की टट्टी खड़ा करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है; वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं; क्योंकि वेदों में उसे 'आश्चर्यो-

‘स्य वक्ता’ कहा है और आश्चर्य को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधरी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला । और सच भी यही है । जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक ‘इदमित्थं’ कह ही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रम रहित क्योंकर कहा जा सकता है । शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके ; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है, तब उसके बनाये संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं—यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भलीभाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, या जो कुछ होता है, सब भ्रम है । किन्तु यह समझने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया जिसके शोक में वह फूट-फूट कर रोने लगे । इसपर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं ?

इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है ! भ्रमोत्पादक भ्रम स्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जबतक भ्रम है तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं। परमेश्वर सबका भ्रम बनाये रखे, इसीमें सब कुछ है। जहाँ भ्रम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किमी काम के नहीं रह जाते हैं, वरंच निरे अकर्त्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि-नारि सब एक हैं, जस मेहरि तस मात' इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाश की जड़ है। ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मल-मूत्र, मांस, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकार-मात्र है, पर हर कोई उसे प्रीति का पात्र समझता है, और दर्शन-स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करता है।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहीं पर है, किन्तु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा

हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिये तो धन-जन इत्यादि पर किसीका कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण भर के उपरान्त न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या ? आखिर एक दिन मरना है, और 'मुँदि गई आँखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझ कर सबसे संबन्ध तोड़ दें तो सारी पूजा गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री, पुत्रादि का प्रबन्ध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप करें। 'ना हम काहू के कोऊ न हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जावें। इतना ही नहीं, और भी सोच कर देखिये तो किसीको कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसको होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जबतक सब पुरजे दुरुस्त हैं और ठीक-ठीक लगे हुए हैं, तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन की आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहाँ न उसकी गति है, न शब्द है, ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है। जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया बस फिर कुछ नहीं। कैसा जीव ? कैसी आत्मा ? एक रीति से यह कहना

झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है, इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों के ही मत से नहीं, किंतु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदितसुख-दुःखं निर्विशेषस्वरूपं' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और वैकुण्ठ का पता कहीं नहीं पाया, किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कर्मों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर पराया अनिष्ट ही तो करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई', और सूरदास जी का 'माया मोहनी मन हरन' कहना प्रत्यक्ष तथा सच्चा ज्ञान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा करनेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो दिचर-दिचर होने लगे, वरंच रह ही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण या श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सिकुड़ जाती हैं? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ-न-कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा

देता है उसकी एक-न-एक दिन कजई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो ही जाया करती हैं ।

इसीसे साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि इससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहनेवाले अल्प-सामर्थ्य जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निंदा करना नीतिविरुद्ध है । पर क्या कोजिये, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गये हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है ।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसीको सब कुछ लुटा दीजिये तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइयेगा, वा भूखों मरके आत्महत्या के पापभागी होइयेगा ! यों ही किसीको सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दण्ड दिलवाइये या आपही उसका दमन कर दीजिये तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा ।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है पर दो सेर पी लीजिये तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोध कर सेवन कीजिये तो बहुत-से रोग-दोष दूर हो जायेंगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिक्मतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी कुँदनी जाँड़ कर 'उसीकी जूती उसीका सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शकर हो गया', का जीवित उदाहरण कइलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो, तो भी भविष्य के लिये हानि और कष्ट से बच जाओगे।

समालोचना का सत्कार

[महावीरप्रसाद द्विवेदी]

किसी कवि का वचन है कि—

अद्यापि दुर्निवारं स्तुतिकन्या वहति कौमारम् ।

सद्भ्यो न रोचते साऽसन्तोऽप्यस्यै न रोचन्ते ॥

अर्थात्—स्तुतिरूपिणी कन्या, जबसे उत्पन्न हुई है तब से आज-तक, यद्यपि बहुत युग बीत चुके, बे-व्याही ही बनी हुई है। उसके विवाह की नौबत ही नहीं आई। उसका कौमार-भाव दुर्निवार-सा है। उसके विवाह की कुछ भी आशा नहीं; क्योंकि जो भले आदमी हैं उनको वह पसन्द नहीं और जो भले नहीं उन्हें वह खुद ही पसन्द नहीं करती।

परन्तु अब वह समय लगा है कि स्तुति-कन्या के कौमार-भाव का हरण बलपूर्वक करने की इच्छा रखनेवाले पैदा हो गये हैं। स्तुति की प्राप्ति के लिये वे उसपर दारुण अत्याचार तक करने को तुले बैठे हैं। मनु ने जिन विवाहों का निर्देश अपनी स्मृति में किया है उनमें से ये स्तुति-लोलुप लोग, उसके साथ वह विवाह करने की अपनी कामना पूर्ण करना चाहते हैं जिसमें कन्या रोती है, चीखती है, छाती पीटती है, परित्राण की याचना

करती है, पर उसकी नहीं सुनी जाती; विवाहेच्छु उसे बलात् अपने घर खींच ले जाना चाहते हैं। ग्रंथकारों के कुछ गुरु, समालोचना के लिये अपने ग्रंथरत्न भेज-भेजकर समालोचकों से इसी तरह की स्तुति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। यदि वह मिल गई तो बड़े खुश। उसकी नकल वे विज्ञापनों के भीतर रखकर छपा डालेंगे, उसे पुस्तक के पीछे लगा देंगे, अपनी पुस्तकों के सूचीपत्र में उद्धृत कर देंगे। समालोचना में यदि कुछ बातें प्रतिकूल हुईं तो उन्हें अवश्य निकाल देंगे। सचाई से भी कुछ सरोकार रखना हुआ तो उन प्रतिकूल बातों की जगह तारक-चिह्न रख देंगे। बहुत कम लोग, शायद सौ में एक, ऐसे होंगे जो सच्ची समालोचना—चाहे वह भली हो, चाहे बुरी—सुनने के इरादे से अपनी पुस्तकें समालोचकों के पास भेजते होंगे। अब तो कुछ लोग ऐसे भी पैदा हो गये हैं जो अपनी पुस्तक की भूमिका में, कभी अपने ही नाम से और कभी प्रकाशक के नाम की आड़ से यहाँ तक लिख देते हैं कि यदि समालोचकों की क्रूर दृष्टि इस पुस्तक पर पड़ी तो लेखक का सारा उत्साह भंग हो जायगा; फिर वह और कोई पुस्तक न लिख सकेगा। उत्साह भंग न हुआ तो वह हिन्दी-साहित्य के भांडार को लाल और हीरक-रत्नों से छत तक ठसा-ठस भर देगा। मतलब यह है कि पुस्तक के पाठ से किसी का समय नष्ट ही क्यों न हो जाय, हर्ज नहीं। उससे दुराचार की वृद्धि ही क्यों न हो, हर्ज नहीं। उसमें भ्रम और भूलों का अतिरेक ही क्यों न हो, हर्ज नहीं। तारीफ ही किये जाओ;

स्तुति-पाठ ही करते चलो । तभी ये लोग सन्तुष्ट हो सकते हैं ।

सच्चे दिल से लिखी गई प्रतिकूल समालोचना सुनकर उससे लाभ उठानेवाले लेखक बहुत ही कम हैं । कुछ में इतना आत्म-बल भी होता है कि ऐसी समालोचना से वे मन-ही-मन कुढ़ तो जरूर जाते हैं, पर मुँह से कुछ नहीं कहते । परन्तु ऐसे भी उदार-हृदय और आत्मसंयमशील पुरुष-पुङ्गवों की कमी नहीं जिनको अपनी पुस्तक की प्रतिकूल आलोचना का एक शब्द भी सहन नहीं होता । वे उसका तीव्र प्रतिवाद करते हैं—कभी अपने ही नाम से करते हैं, कभी बनावटी नाम से । कभी-कभी वे अपने मित्रों, मित्रनेवालों और पार्षदों से भी प्रतिवाद कराते हैं । ये लोग प्रतिकूल आलोचना के एक-एक शब्द का प्रतिवाद करते हैं, समालोचकों के स्वयं-समालोचक बन जाते हैं—उलटा उन्हीं की अशुद्धियाँ दिखाने की चेष्टा करते हैं, उनपर ईर्ष्या-द्वेष का आरोप करते हैं, उनकी दिल्लगी उड़ाते हैं और कहते हैं कि इसने यह समालोचना लिखकर पुरानी दुश्मनी का बदला लिया है । यह सब करके अपनी पुस्तक के विषय में कुछ-कुछ इस प्रकार की प्रशंसा प्रकाशित करते हैं ।

मेरी पुस्तक गवर्नर-जेनरल रोज सिरहाने रखकर सोते हैं । मेरी पुस्तक सेक्रेटरी आव स्टेट अपनी मेज पर आईने के सदृश सामने रखते हैं । मेरी पुस्तक के पाठ से तैंतीस कोटि मानवों का कल्याण हुआ है । मेरी पुस्तक के अष्टोत्तरशत संस्करण छप चुके

हैं ; उसका प्रचार कुरान, बाईबिल और रामायण से भी बढ़कर है । मेरे उपन्यास में अकबर और औरंगजेब के जमाने के ऐतिहासिक तत्त्व भरे पड़े हैं । समालोचक ने उसे साद्यन्त पढ़े बिना ही समालोचना लिख मारी है ।

ये सज्जन-शिरोमणि साहसी, सत्यव्रत और सरल-स्वभाव इतने होने हैं कि यह सारा गंधर्वगान बहुधा घूँघट की ओट ही से करते हैं । आपका नाम-धाम मालूम हो जाय तो आपकी अपार ज्ञान-राशि से दो-चार कण प्राप्त करने के लिये, आपके ज्ञानागार के द्वार पर, कहीं जन-समुदाय न उमड़ आवे ! कोई-इनसे पूछे कि यदि आपकी पुस्तक इतनी लोकोत्तर थी तो टुटपुँजिये समालोचकों के पास आपने उसे समालोचनार्थ भेजा क्यों ? इनमें से कुछ की उदारता का तो यह हाल है कि जो समालोचक उनका चरित्र-गान-श्रवण कराने में सहायक हो और जो उनकी विद्वत्ता-व्यञ्जक महती मूर्ति दिखाता फिरे उसपर भी ये ईर्ष्या-द्वेष का दूषण निःसंकोच हो कर, अपने पार्षदों की आड़ से केवल इस कारण लगा देंगे कि उसने, अपने मति के अनुसार, इनकी दो-एक भूलें दिखा दीं !

बृहस्पति को भी बारह वर्षों तक बारहखड़ी की बारीकी बताने की योग्यता रखनेवाले ये अहम्मानी महाशय न्याय, नीति, सदाचार और सचाई सबको एक साथ तिलाञ्जलि दे देते हैं । प्रतिकूल समालोचना पढ़ते ही इनके हृदय में उच्चता, योग्यता, श्रेष्ठता, आत्म-मर्यादा और प्रखर पांडित्य के पानी की प्रबल-

धारा सी बहने लगती है। अच्छा, समालोचक के मुकाबले में इनके अहम्भाव और उच्चत्व की इयत्ता की जाँच तो कीजिये। लेखक या प्रकाशक क्यों किसी पुस्तक को “समालोचनार्थ” भेजता है ?

(क) या तो इसलिये कि पुस्तक के गुण-दोष उसे मालूम हो जायँ।

(ख) या इसलिये कि समालोचना के रूप में पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित हो जाने से उसकी कुछ कापियाँ विक जायँ, और, इस तरह, कुछ टके वसूल हों।

(ग) या इसलिये कि पुस्तक की प्रशंसा प्रकाशित होने से लेखक की यशोवृद्धि हो।

यदि (क) कारण से पुस्तक भेजी गई तो मानों भेजनेवाले ने, भेजने के साथ ही, समालोचक को विद्या, योग्यता, साहित्य-ज्ञान और अनुभव आदि में अपने से बड़ा-चढ़ा नहीं, तो सदृश अवश्य स्वीकार कर लिया, क्योंकि यदि समालोचक ऐसा न होगा तो वह पुस्तक के गुण-दोष दिखा कैसे सकेगा। ऐसे ही समालोचक की समालोचना की प्रतिकूल सम्मति पढ़कर जो लोग उस पर तत्काल ही आक्रमण करते हैं वे इस कार्य से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते तो नहीं, उसका समूल नाश अवश्य करते हैं। जिससे अभी कल तक सीखने की इच्छा रखते थे उसीको आज सिखाने की चेष्टा करनेवाले मनुष्य समाज में किस दृष्टि से देखे जाते हैं, और किन आन्तरिक भावों की

प्रेरणा से वे ऐसा निन्द्य काम करते हैं, इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं ।

यदि समालोचना के लिये पुस्तक भेजने का कारण (ख) है तो समालोचक दाता नहीं तो उन्कारकर्त्ता, और भेजने-वाला याचक हुआ । और, जो लोग याचक बनकर किसी के द्वार पर जाते हैं उनकी उच्चता, प्रतिष्ठा और आत्म-मर्यादा की मात्रा ही कितनी ! ये ही लोग भिक्षा प्राप्ति में विफल-मनोरथ होने पर यदि समालोचक को सदाचार, योग्यता, सत्यता और आत्म-गौरव का सबक सिखाने चलें और निर्मूल आक्षेपों द्वारा उसकी निन्दा करते फिरें तो समझ लेना चाहिये कि भगवान् ने इन्हें भीख माँगने की बुद्धि भी नहीं दी, पुस्तकें लिखकर दूसरों का कल्याण करने की बुद्धि तो दूर की बात है । चुटकी मिल गई तो—“दाता की जय हो !”—न मिली तो कोसते हुए चल दिये !

यदि पुस्तक भेजने का कारण (ग) है तो भी भेजनेवाले का यह कार्य उसकी उच्चता और उदारता का सूचक नहीं । जो मनुष्य कोरी प्रशंसा की प्राप्ति ही के लिये दूसरों का दरवाजा खटखटाता है वह भी एक प्रकार का याचक है और बहुत बुरा याचक है । कोई भी उच्चाशय सज्जन प्रशंसा-प्राप्ति के लिये चेष्टा नहीं करता । प्रशंसनीय काम करने से कीर्त्ति और प्रशंसा स्वयं ही उसे प्राप्त होती है; उनकी प्राप्ति के पीछे दौड़ लगाने से तो उल्टी अपकीर्त्ति होती है—महार्त्माओं का तो यही मत है; लोकोत्तर ग्रन्थकारों का अज्ञबन्ते नहीं ।

इन तीनों में से किसी भी कारण से प्रेरित होकर जो लेखक या प्रकाशक समालोचना के लिये पुस्तक भेजता है वह न्याय और सदाचार, दोनों दृष्टियों से, समालोचक की कृपा-कटाक्ष की अभिलाषा रखता है। इस दशा में उसका गौरव समालोचक के गौरव की बराबरी कदापि नहीं कर सकता। स्थिति इस प्रकार की होने पर भी जो लेखक या प्रकाशक, समालोचक की प्रतिकूल सम्मति सुन कर, प्रत्यक्ष या परोक्ष-भाव से उस पर आक्रमण करते हैं और अपने अहंकार की हुंकृति का नाद सुनाते हैं, वे अपने को उपहास और तिरस्कार का पात्र मात्र बनाते हैं। अपना उपकार होने की आशा से पहले तो पुस्तक भेजना, फिर समालोचक की सच्ची समालोचना पढ़ कर, उस पर ईर्ष्या और द्वेष का आरोप करना, कुटिलता और हृदय की कलुषता की पराकाष्ठा है। जहाँ कहीं ईर्ष्या, और द्वेष के भाव जागरूक होते हैं वहाँ उनके कारण प्रायः पहले ही से विद्यमान होते हैं। जिससे जो ईर्ष्या करता है उसे बहुत करके यह ज्ञात रहता है कि इस ईर्ष्यालु मनुष्य की ईर्ष्या का यह कारण है। इस दशा में कोई भी समझदार आदमी ईर्ष्यालु और द्वेष-दुष्ट समालोचक के पास अपनी पुस्तक समालोचना के लिये नहीं भेजता। जहाँ ऐसी स्थिति नहीं—जहाँ ईर्ष्या-द्वेष का कोई कारण नहीं—वहाँ भी अपनी पुस्तक के विषय में अनुकूलता के साथ आंशिक प्रतिकूलता देखते ही, जो आदमी समालोचक पर ईर्ष्या-द्वेष की स्थापना करता है, वह केवल अपनी विकार-विलसित बुद्धि का परिचय

देता है; क्योंकि उसे इतना भी ज्ञान नहीं कि जिस सम्मति को वह ईर्ष्या-जनित समझता है वह किसी की सच्ची सम्मति भी हो सकती है। ऐसे विक्षिप्त-चित्त लेखक, प्रकाशक या उसके वकील की जल्पना का सबसे बड़ा उत्तर उपेक्षा ही हो सकता है। यदि कोई समालोचक किसी से उसकी पुस्तक माँग कर या उसे मोल लेकर उसकी प्रतिकूल समालोचना करे तो, किसी अंश तक, यदि और कारण विद्यमान हों तो, उसपर ईर्ष्या-द्वेष का इलजाम लगाया भी जा सकता है। पर जो ऐसा नहीं करता और जिसके पास पुस्तकाधिकारी स्वयं ही अपने हित के लिये, समालोचनार्थ पुस्तक भेजता है, उस पर वैसा इलजाम लगाना उच्चता का उल्टा भाव प्रकट करना है। जिसे आप ईर्ष्यालु समझते हैं उससे आप समालोचना चाहते क्यों हैं? पुस्तक माँगने के लिये, अर्जी लेकर, वह आपकी ड्यूटी, आपके बँगले, आपके छापेखाने के द्वार पर तो गया ही नहीं !

हमारे ये विचार सभी लेखकों, सभी प्रकाशकों और सभी पुस्तकाधिकारियों के विषय में चरितार्थ नहीं। जो लोग पूर्वोक्त प्रकार का व्यवहार करते हैं, हमारी कैफियत उन्हीं के लिये है। जिनकी यह समझ है कि “सरस्वती” का समालोचक ईर्ष्या-द्वेष का कीड़ा, अहंकार का अवतार, और बिना पढ़े ही कुछ-न-कुछ लिख मारनेवाला है, उनसे हमारी प्रार्थना है कि माँगने पर भी वे, कभी भूल कर भी, अपनी पुस्तक समालोचना के लिये उसके

पास न भेजें । वे अपनी चमकदार सारावली और हारावली, माला और मयूख, निशाकर और दिवाकर की मंजु मरीचियों का संवरण किये रहें । हमें अन्धकार ही में पड़ा रहने दें । ज्ञानालोक की अनिवार्य आवश्यकता होगी तो हम उनकी पुस्तकें मोल लेकर पढ़ लेंगे ।

आशीर्वाद

[बालमुकुन्द गुप्त]

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भग रगड़ी जा रही थी। मिर्चे-मसाला साफ हो रहा था। बादाम-इलायची के छिलके उतारे जा रहे थे। नागपुरी नारङ्गियाँ छील-छील कर रस निकाला जा रहा था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं; तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग उधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अन्धेरा छाया। बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़-धड़धड़ होने लगी। देखा, ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई। “बम भोला” कहके शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल ढिङ्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बङ्ग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्त्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भङ्ग छान कर महाराज जी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़-धड़,

तड़तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोंके से किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे के टिनों पर तड़तड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के किवाड़ खोल कर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंके ने दस-वीस बूँदों और दो-चार ओलों से शर्मा जी के श्री-मुख का अभिषेक किया। कमरे के भीतर भी ओलों की एक बौछार पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये, तथापि एक शीशा चूर हुआ। समझ में आ गया कि ओलों की बौछार चल रही है। इतने में टन-टन करके दस बजे। शर्मा जी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान, टिन और ओलों के सम्मिलन को ठन-ठन का मधुर शब्द सुनने लगे। आँखें बन्द, हाथ-पाँव सुख में। पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह झधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे, और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरों में चले गये होंगे, पर वह चीलें कहाँ गई होंगी? ओलों से उनके बाजू कैसे बचे होंगे? जो पक्षी इस समय अपने अण्डों बच्चों समेत पेड़ों पर पत्तों की आड़ में हैं या घोंसले में छिपे हुए हैं, उनपर क्या गुजरी होगी? जरूर झड़ें हुए फलों के ढेर में कल सबेरे इन बदनसीबों के टूटे अण्डे, मरे बच्चे और इनके भाँगे सिसकते शरीर पड़े मिलेंगे। हाँ, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर वह नहीं जानता कि इस

अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सैकड़ों अट्टालिकाएँ शून्य पड़ी हैं। उनमें सहस्रों मनुष्य सो सकने, पर उनके ताले लगे हैं और सहस्रों में केवल दो-दो, चार-चार आदमी रहते हैं। अहो, तिस पर भी इस देश की मिट्टी से बने हुए सहस्रों अभागे सड़कों के किनारे इधर-उधर की सड़ी और गली भूमियों में पड़े भींगते हैं। मैले चिथड़े लपेटे वायु, वर्षा और ओला का सामना करते हैं। सबेरे इनमें से कितनों ही की लाशें जहाँ-तहाँ पड़ी मिलेंगी। तू इस चारपाई पर मौजें उड़ा रहा है !

आन की आन में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत ! तेरी वर्त्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ ? कभी कोई हर्षसूचक बात दस-बीस पलक के लिये चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिये। प्यारी भङ्ग ! तेरी कृपा से कभी-कभी कुछ काल के लिये चिन्ता दूर हो जाती है। इसीसे तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढ़ा भङ्गड़ा क्या सुख का भूखा है ! घावों से चूर जैसे नींद में पड़कर अपने कष्ट को भूल जाता है, अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी-कभी अपने कष्टों को भूल जाता है !

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है। जो बात इस समय है, वह सदा न रहेगी। इससे

एक अच्छा समय भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी—भादों कृष्ण अष्टमी की अर्द्ध-रात्रि। चारों ओर घोर अन्धकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंधती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी ! ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्योजात शिशु को गोद में लिये, मथुरा के कारागार से निकल रहा था। शिशु की माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को भूलकर दुःख से विह्वल होकर चुपके-चुपके आँसू गिराती थी, पुकार कर रो भी नहीं सकती थी। बालक उसने उस पुरुष को अर्पण किया और बलेजे पर हाथ रखकर बैठ गई। सुध आने के समय से उसने कारागार में ही आयु बिताई है। उसके कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आँखों के सामने मारे गये। यह अन्तिम बालक है। कड़ा कारागार, विकट पहरा, पर इस बालक को वह किसी प्रकार बचाना चाहती है। इसीसे उस बालक को उसके पिता की गोद में दिया है कि वह उसे किसी निरापद स्थान में पहुँचा आवे।

वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। उसीको उस कठिन दशा में, उस भयानक काली रात में वह गोकुल पहुँचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदों को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है। वसुदेव सब कष्टों को सहकर यमुना पार

करके भोगते हुए उन बाज़ू को गोकुल पहुँचा कर उसी रात कारागार में लौट आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रज का प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ। वही उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई, जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव, स्वामी और सर्वेश्वर। वह कारागार भारत-सन्तान के लिये तीर्थ हुआ। वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई।

जो जेल चोर-डकैतों, दुष्ट-हत्यारों के लिये है, जब उसमें सज्जन-साधु, शिक्षित, स्वदेश और स्वजाति के शुभ-चिन्तकों के चरण-स्पर्श हों, तो समझना चाहिये कि उस स्थान के दिन फिरे। ईश्वर की उसपर दया-दृष्टि हुई। साधुओं पर संकट पड़ने से शुभ दिन आते हैं। इससे सब भारतवासी शोक-सन्ताप भूल कर प्रार्थना के लिये हाथ उठावें कि शीघ्र वह दिन आवे कि जब एक भी भारतवासी चोरी, डकैती, दुष्टता, व्यभिचार, हत्या, लूट-खसोट, जाल आदि दोषों के लिये जेल में न जाय। जाय तो देश और जाति की प्रीति और शुभ चिन्ता के लिये। दीनों और पद-दलित निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचाने के लिये, हाकिमों को उनकी भूलों और हार्दिक दुर्बलता से सावधान करने के लिये और सरकार को सुमन्त्रणा देने के लिये। यदि हमारे राजा और शासक हमारे सत्य और

स्पष्ट भाषण और हृदय की स्वच्छता को भी दोष समझें और हमें उसके लिये जेल भेजें तो वैसी जेल को हमें ईश्वर की कृपा समझकर स्वीकार करना चाहिये और जिन हथकड़ियों से हमारे निर्दोष देश-बान्धवों के हाथ बँधें, उन्हें हेममय आभूषण समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि हमारे ईश्वर में इतनी शक्ति न हो कि वह हमारे राजा और शासकों को हमारे अनुकूल कर सके और उन्हें उदारचित्त और न्यायप्रिय बना सके, तो इतना अवश्य करे कि हमें सब प्रकार के दोषों से बचा कर न्याय के लिये जेल काटने की शक्ति दे, जिससे हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारत के। इस देश के सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहें इसी देश में चाहे जेल में चाहे घर में। जबतक जियें जियें और जब प्राण निकल जायँ तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जायँ।

अनुप्रास-अन्वेषण

[जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी]

गृहस्थाश्रम में गमन करते ही विवाह—पाणिग्रहण की चिन्ता—चित्त को चञ्चल करती है। घरनी के बिना घर नहीं—गृहिणी बिना गृह नहीं। स्वजनों, परिजनों, पुरजनों से नीची नजर न करो तो बनी बात बिगड़ती है, क्योंकि क्वारे-कच्चे का सङ्ग-साथ ठहरा। शहर-बाजार और नगर की ही नहीं, गँवई-गाँव और देहातों की भी यही दशा है। दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची, काका-काकी, भाई-भौजाई, भाई-भतीजे, जीजा-जीजी, फूफा-फूफी, नाना-नानी, मामा-मामी, और बहन-बहनोई की बदौलत सम्बन्ध-सगाई हो गई। वैदिक-जौकिक रीति-भौति होने लगी। गाने-बजाने, नाच-गान, राग-रंग का बाजार गर्म हुआ। चहल-पहल हुई। सज-धज, गाजे-बाजे, ठाट-बाट, धूम-धाम, धूमधड़ाके तूमतड़ाक और शानशौकत से ठस्से के साथ बरने सिर पर सेहरा रख घर से घोड़ी या पीनस, पालकी, तामजाम या विहार की खड़खड़िया पर शुभ सायत में यात्रा की। अपने-बेगाने, अपने-पराये बराती बने। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, पैदल चलते, ठीक-ठिकाने पहुँचे। यह उस समय की बात है जब रेल या जहाज नहीं फैला था। अब तो स्टेशन जा, टिकट कटा, माल तुला, महसूल दे दिया। प्लेटफार्म पर टहलने लगे। पड़ले से डब्बे रिजर्व करा

लो तो कोई झंझट नहीं। सिगनल ने सिर झुकाया। गाड़ी आई। चढ़ बैठे। नहीं तो भीड़भाड़ में धक्कम-धक्का, ठेलम-ठेल, ठाँयँ-ठाँयँ, चख-चख, ले-ले, दे-दे, मैं-मैं, हाय-हाय ही नहीं, लपड़-थपड़, धौल-धप्पे, चपत-तमाचे, चाँटे-चनकटे, मुक्के-घूँसे, लात-जूते, जूते-पैजार, मार-पीट तक की नौबत पहुँच जाती है। पर तो भी गाड़ी में गुजर नहीं। घंटा बजते सीटी हुई और गाड़ी यह गई वह गई। कुलियों की कामना पूरी करने में कोताही की और हुज्जत हुई। इससे स्टेशनमास्टर से ले मेहतर तक का मुँह मीठा करना मुसाफिरों के लिये मुफीद है। तीसरे दरजे के लिये मुसाफिरों से ही रेलवालों का रोजी-रोजगार, रोजी-रोटी चलती है और घर भरता है, पर तो भी उनके सुख-दुख का पूछनेवाला कोई नहीं और न कोई उनकी खोज-खबर ही लेता है। सचमुच उनका घनी-धोरी कोई नहीं है। गरमी के मौसम में पथिक प्यास से पीड़ित हो पुकारते-पुकारते पसीने-पसीने हो जाते हैं, पर पानी-पाँड़ेजी (चाहे वह कोरी-कलवार क्यों न हों) टस से मस नहीं होते। कृपाकर आये भी, तो डोल, बालटी, लोटा खाली दिखा रफूचकर हो जाते हैं। मुसलमानों के सक्के या भिश्ती सुराही-गिलास लिये पहले गोरे गार्ड ड्राइवरों के ढिग जाने, पीछे मकरूह मुसाफिरों का मुआइना करते हैं। यही नहीं, गाड़ियाँ लड़ गई या आपस में उनकी टक्कर हो गई तो जान की जोखिम है, प्राण-पखेरू के उड़ने में विलम्ब नहीं होता।

अच्छा, अब आगे का हाल-अहवाल सुनिये। बरात के डेरा

डालते ही बेटा के बाप पर बेभाव पड़ने लगती है। वह बेचारा बराती-घराती, आये-गये, पई-पाहुने, न्यौतारी-व्यौहारी, दोस्त-आशना, गुरु-पुरोहित, सगे-सम्बन्धी के आव-भाव, आदर-सत्कार, खिलाने-पिलाने के प्रबन्ध में ही लग जाता है। गरजने, चिल्लाने, बकने, भूकने, समझाने और गुलगपाड़े से तबीयत हैरान-परेशान रहती है। सुबह-शाम, साँझ-सबरे जब देखो तब वही बात। अकेले ही आफत है। जो धन-जन से भरा पूरा है उसको कुछ मत पूछो। भाग्यवान् का हल भूत जोतता है। गरीबों को भगवान् का भरोसा है। उसका बेड़ा वही पार करता है। इसलिये हिम्मत हारने या मन माने की जरूरत नहीं। पर औरतें गीत गाने, गाली गाने, सीठने-सुनाने, सिंगार-पटार करने और चोटी-पाटी, मेंहदी-मुहावर, मिस्सी-सुरमे में ही मस्त रहती हैं। उन्हें फालतू बातों से क्या मतलब? खैर, शुभ समय में कन्यादान हुआ। मातृकापूजन, सप्तपदी, पादप्रक्षालन, मधुपर्क, सिन्दूरदान आदि शास्त्रोक्त रीतियाँ यथा समय की गईं।

माँगर-मढ़वे, कुँवर-कलेवे, बत्ती-मिलाई, गूँथ-खुलाई, पत्तल-बदलौअल, टीका-पटा, पाँव-पखरावनी आदि आचार में कुछ कोर-कसर या गलती भूल नहीं रही। यहाँ तक कि गोबर-गणेश की पूजा भी पहले ही विधिवत् कर दी गई थी। वर-बधू को बधाइयाँ और मुबारकवाद मिला, दोनों ओर खूब वारे-न्यारे हुए। खर्च-बर्च हैसियत के हिसाब से करना ही होशियारों का उसूल है, नहीं तो ब्याह के बाद पत्तल भारी हो जाती है।

इसके बाद जेमा-जूठी, ज्योनार-भोज, भोजन-छाजन की बारी आई। आहार-व्योहार में लज्जा न करे, लाचार निर्लज्ज हो न्योता खाने लोग चले आये। पहले पानी-पत्तल जल-पत्तल परोसने की पुरानी प्रथा है। अब साथ में लोटा-गिलास लाने की चाल चल निकली है। इसलिये सकोरों-पुरवों का प्रबन्ध हो जाता है। कच्ची-पक्की, निखरे-सखरे, आमिष-निरामिष का विचार बेहद बढ़ गया है। घृतपक्वं पयःपक्वं के भी प्रेमी हैं। पर कान्यकुब्जों की कहानी अकथ है। वह तीन जने इकट्ठे हो तेरह चूल्हे चाहते हैं। बेटी-रोटी-व्यवहार का वहाँ बड़ा बखेड़ा है। चौबे-चतुर्वेदियों की चाल निराली है। तीन लोक से इनकी मथुरा ही न्यारी है। यहाँ भेदभाव नहीं। सब साथ खाने-पीनेवाले हैं। हाँ, लकीर के फकीर जरूर हैं। लीक लगाये बिना इनका काम नहीं चलता है। यथास्थान सबके आसीन हो जाने पर परोसनेवालों ने पाक-प्रणाली के अनुसार परिवेषण प्रारम्भ किया। मैं भी साग-सब्जी और साग-तरकारी से ही शुरू करता हूँ। लीजिये—

रसीला-मठीला, आलू-बालू, परवल-पालक, कोहड़ा-कदुआ, करैला-केला, करमकला-कच्चू, तुरई-मुरई, मूनी-मटर, पपीता-रामतरोई, नेनवाँ, गोबी-गाजर, अरबी, करेले की कलौंजी, कचनार की कलियों का रायता, आलू और आम का अचार, चटपटी चटनी, आम, आमले का मुरब्बा, जलजीरा, कान्यकुब्जों की कढ़ी-करायन, पपची-पान।

कच्ची—

चावल-दाल, रोटी-पूरी, खीर-झोर, खीर-पूरी, खीर-महेरा, निमोना, खिचड़ी के चारो पार—घी, दही, पापड़, अचार, बरी, तिलौरी, फुलौरी, पकौरी, तरी-बरी, रसखीर, दाल-फलका ।

पक्की—

पूरी-कवौड़ी, पूरी-परामठा, पूरी-तरकारी, दिलखुशहाल-सुहाल, रवड़ी-बसौंधी, लड्डू-पेड़ा, मोहनभोग-मालपूआ, सोहन-हलुआ, समोसा, चुँदियादाना, परवललत्ती, गुपचुप, बादाम की बर्फी, कलाकन्द, खाजा-खुरमा, गुलगुला, सकरपाला, बड़ा-पापड़, मटर की छीमी, बालाई-मलाई, इमरती-इन्दरसा, गुलाबजामुन, जलेबी, गटेटा, उलटा चीन्हा, मोतीचूर-मगदल, मेवा-मिठाई, दूध-दही, मक्खन, मिसगी, नवनीत, मिष्ठान, पक्वान्न, शाकान्न, चर्व्य-चोष्य, लेह्य-पेय पदार्थों के सिवा मीठे-सीठे, खट्टे-चरपरे, कड़वे-कसैले, तीते, सारांश कि षट्स की स्वादिष्ट सामग्री संगृहीत थी ।

फल—

फलाहारियों के लिये फलमूल, सेब, नासपाती, अंगूर, अनार, अंजीर, अखरोट, अमरूद, अनन्नास, आम, जामुन, केले, नारियल, शहतूत, खिन्नी, इमली, नीबू, नारङ्गी, कटहल, बड़हल, कमरख, कमलगट्टे, सीताफल, शरीफे, श्रीफल, चिरौंजी, किशमिश, पिस्ते, मुनक्के, बादाम, बिहीदाने, खीरे, ककड़ी, तरबूज और खरबूजे भी खरीदे गये थे ।

मुसलमानों के लिये बावचियों के बनाये कलिया-कवाव, कलिया-पुलाव, कोफता-कोर्मा, शीरमाल, जरदा, विरियानी, केक-उबिसकिट, चा-चीनी, मुर्गमुतंजन वगैरह खाने अलग दस्तरखान पर चुने गये थे ।

जिसे जुरता नहीं वह बेचारा बापुरा गरीब दाल-दलिया, साग-सत्तू, चना-चवेना, रूखा-सूखा, मोटा-झोंटा, मोटा-महीन, पत्रं-पुष्प लेकर ही समधी का मत्कार करता है ।

खाना खाने, भोजन करने, भक्षण करने, भकोसने और भखने पर हाथ-मुँह धो, कुल्ला कर, खरके-तिनके से दाँत कुरेद, कोई पान-सुपारी, लॉंग, इतायची, सुरती, जम्दा, तम्बाकू खाता है और कोई चिलम, तमाकू, टिकिया-तमाकू, हुका-गड़गड़ा, चुरुट-बीड़ी-सिगरेट पीता ह । नये शोकीन ताम्बूल-बिहार और जीनतान पर टूटने हैं । मतलब यह कि वन्दोवस्त बड़ा बढ़िया था । जिसने जो माँगा उसे वही मिला ।

इसके बाद बरात बिदा हुई । बरतन-वासन, वासन-कूसन, असन-बसन, जामा-जोड़ा, लँहगा-लुगरा, आढ़ना-बिछौना, तोषक-तकिया, गहना-गुरिया, गहना-गाँठी, रुपये-पैसे, दहेज, दान-दहेज दामाद को दस्तूर से ज्यादा दिये गये थे । नगद-नारायण में भी न्यूनता न थी । जिन लोगों में लेन-देन की—ठहरौनी की—रीति है नमें बड़ा झगड़ा-टंटा, झगड़ा-बखेड़ा होता है ; पर यहाँ बीं-चपड़, गड़बड़-शड़बड़ के बिना हँसी-खुशी से मामला मिटा ।

बिदा के वक्त स्त्रियों का मिलना-जुलना, मिलना-भेंटना, लिपटना, रोना-धोना देखकर पत्थर भी पसीजता था। जनाब, बेटी की बिदा है या दिल्लगी। दुष्यन्त के दरबार में शकुन्तला को भेजते समय काननवासी कठोर कण्व का भी कलेजा काँप गया था। यह हमारा-तुम्हारा नहीं, कवियों के कुलगुरु कालिदास का कथन है। खैर, बहू की बिदा ले बरात बस्ती के बाहर हुई। गौने-रौने की रस्म भी पूरी कर दी गई है। जैसे गई थी वैसे ही कुशल-मङ्गल बरात घर वापिस आई। बहू के निरीछन-परीछन हो जाने के बाद बेटे-बहू या वर-वधू का गृह-प्रवेश हुआ। पाँव-पड़ाई और मुँह-दिखाई हुई। सास-ससुर, देवरानी-जेठानी, नन्द-ननदोई से नया नेह-नाता लगा। ससुराल में साली-सरहज, साला-साली और साढ़ू का सम्बन्ध स्वयंसिद्ध हो जाता है।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेषण में कृतकार्य हुआ। आगे कौन कह सकता है कि क्या होगा, पर मैं पीछे पैर देनेवाला नहीं। धैर्य धारण कर दिन-दूने रात-चौगुने साहस और उत्साह से हाट-बाट, घर-घाट, नदी-नाले, जङ्गल-झाड़ी, वन-पर्वत की कौन कहे, देश-विदेश और सात समुद्र पार जाकर द्वीपान्तरो में दिन-दोपहर, दिन-दहाड़े, रात-बिरात, बेरोक-टोक विचरण करूँगा और मौका मिलते ही अनुप्रास की खुशखबरी, शुभ समाचार सबको सुनाऊँगा। अभी तो गृहस्थाश्रम ग्रहण कर दार-परिग्रह ही हुआ है। उसके सुख-शान्ति, सन्तान-सुख, राग-रंग और दुख-दारिद्र्य, शोक-सन्ताप, कलङ्क-क्लेश, हर्ष-विषाद का जिक्र ही

नहीं आया है। गृहस्थ को सब ही भोग भोगने पड़ते हैं। यह देह का दंड है। लीलामय की लीला अपरम्पार है। वह तिल को ताड़ और पर्वत को राई कर सकता है। भूतनाथ भगवान् भवानीपति अलबेले भोलानाथ का ही भरोसा है कि वह भलीभाँति भला करेंगे।

मुझे मेरे मित्रों से बचाओ

[पद्मसिंह शर्मा]

एक दिन मैं दिल्ली के चाँदनी चौक में जा रहा था कि मेरी नजर एक फकीर पर पड़ी, जो बड़े प्रभावोत्पादक प्रकार से अपनी दीन दशा लोगों से कहता जा रहा था। दो-तीन मिनट बाद यह दर्द से भरी हुई 'स्पीच' उन्हीं शब्दों में और उसी ढंग से दोहरा दी जाती थी। यह तर्ज कुछ मुझे ऐसा खास मालूम हुआ कि मैं उस शख्स को देखने और उसके शब्द सुनने के लिये ठहर गया। इस फकीर का कद लम्बा, शरीर खूब मोटा-ताजा था और चेहरा एक हद तक खूबसूरत होता, पर बदमाशी और निर्लज्जता ने सूरत बिगाड़ दी थी। यह तो उसकी शक्त थी। रही उसकी वाणी। सो मैं ऐसा शुष्क-हृदय नहीं हूँ कि उसका खुलासा लिख दूँ। वह इस योग्य है कि एक-एक शब्द लिखा जाय, सुनिये वह 'स्पीच' यह थी—

‘ऐ भाई खुदातरस मुसलमानो और धर्मात्मा हिन्दुओ ! खुदा के लिये मेरा हाल सुनो, मैं आफत का मारा, सात बच्चों का बाप हूँ, अब रोटियों के मुहताज हूँ, और अपनी मुसीबत एक-एक

से कहता हूँ, मैं भीख नहीं माँगता, मैं यह चाहता हूँ कि अपने वतन को चला जाऊँ, पर कोई खुदा का प्यारा मुझे घर भी नहीं पहुँचाता, हाय ! घर भी नहीं पहुँचाता ।

“ऐ खुदा के बन्दो ! मैं परदेसी हूँ, मेरा कोई दोस्त नहीं, हाय ! मेरा कोई दोस्त नहीं, अरे कोई मेरी सुनो, मैं गरीब परदेसी हूँ ।”

फकीर तो यह कहता हुआ और जिनपर उसके किस्से का असर हुआ, उनकी खैरात लेता हुआ आगे बढ़ गया । पर मेरे दिल में कई विचार उत्पन्न हुए और मैंने अपनी हालत का मुकाबला उससे किया और मुझे स्वयं आश्चर्य हुआ कि बहुत-सी बातों में मैंने उसको अपने से अच्छा पाया । यह ठीक है कि मैं काम करता हूँ और वह मुफ्तखोरी से दिन काटता है. मैंने शिक्षा पाई है, वह निरक्षर है । मैं अच्छे लिबास में रहता हूँ, वह फटे कपड़े पहनता है, बस यहाँ तक मैं उससे अच्छा हूँ, आगे बढ़कर उसकी दशा मुझसे बहुत उत्तम है । मैं रात दिन चिन्ता में काटता हूँ और वह ऐसी निश्चिन्तता से जिन्दगी बसर करता है कि रोने और बिसूरने की सूरत बनाने पर भी उसके मुख पर प्रसन्नता झलकती थी । उसके स्वास्थ्य पर मुझे स्पृहा करनी चाहिये । बड़ी देर तक मैं सोचता रहा कि इसकी यह स्पृहणीय दशा किस वजह से है ? अन्त में मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि जिसे वह मुसीबत खयाल करता है, वही उसके हक में न्यायमत्त है । वह खेद से कहता कि ‘मेरा कोई दोस्त नहीं ।’

‘मैं दुख से कहता हूँ कि मेरे इतने दोस्त हैं।’ उसका कोई दोस्त नहीं है, यदि यह सच है तो उसे धन्य कहना चाहिये, बधाई देनी चाहिये।

मैं अपने दिल से ये बातें करता हुआ मकान पर आया, कैसा खुशकिस्मत आदमी है, कहता है ‘मेरा कोई दोस्त नहीं।’ ये खुशनसीब आदमी ! यहीं तो मुझसे बढ़ गया, पर क्या इसका यह कहना सच भी है ? अर्थात् क्या वास्तव में इसका कोई दोस्त नहीं जो मेरे दोस्तों की तरह उसे दिन भर में पाँच मिनट की भी फुरसत न दे। मैं अपने मकान पर एक लेख लिखने जा रहा हूँ, पर खबर नहीं कि मुझे जरा-सा भी ऐसा वक्त मिलेगा कि मैं एकान्त में अपने विचारों को इकट्ठा कर सकूँ और निश्चिन्तता से उन्हें लिख सकूँ; या जो व्याख्यान मुझे कल देना है, उसे सोच सकूँ। क्या यह फकीर दिन दहाड़े अपना रुपया ले जा सकता है और उसका कोई दोस्त रास्ते में न मिलेगा और यह न कहेगा कि—‘भाई जान ! देखो पुरानी दोस्ती का वास्ता देता हूँ, मुझे इस वक्त जरूरत है, थोड़ा-सा रुपया कर्ज दो ?’ क्या इसके मिलनेवाले वक्त बे-वक्त इसे दावतों में खींच कर नहीं ले जाते, क्या कभी ऐसा नहीं होता कि उसे नींद के झोंके आ रहे हों, पर यार-दोस्तों की गोष्ठी जमी है जो किससे पर किससे और लतीफे पर लतीफा कह रहे हैं और उठने का नाम नहीं लेते ? क्या इसे मित्रों के पत्रों का उत्तर नहीं देना पड़ता ? क्या इसके प्रिय मित्र की लिखी कोई पुस्तक नहीं जो उसे ख़ाहम ख़ाह

पढ़नी पड़े और अनुकूल समालोचना लिखनी पड़े ? क्या इसे मित्र-मंडली के हो-हुल्लड़ में शरीक होना नहीं पड़ता ? क्या मित्रों के यहाँ मिलने उसे जाना नहीं पड़ता, और यदि न जाय तो कोई शिकायत नहीं करता ?

यदि इन सब आपत्तियों से वह बचा हुआ है तो कोई आश्चर्य नहीं जो वह ऐसा हट्टा-कट्टा है, और मैं दुर्बल और कृश हूँ। पर इतने पर भी ईश्वर को धन्यवाद नहीं देता ! ईश्वर जाने वह और क्या चाहता है ! लोग कहेंगे कि इसके यह कैसे बुरे विचार हैं, मित्र के बिना जीना दूभर हो जाता है—जीवन भारभूत हो जाता है, और यह उनसे भागता है। पर मैं मित्रों को बुरा नहीं कहता। मैं जानता हूँ कि वह मुझे प्रसन्न करने के लिये मेरे पास आते हैं और मेरे शुभ-चिंतक हैं। पर परिणाम यह है कि मित्रों का इरादा होता है मुझे लाभ पहुँचाने का, और हो जाता है मुझे नुकसान। चाहे मुझसे घृणा की जाय, पर मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि आज तक मेरे सामने कोई सिद्ध न कर सका कि बहुत से मित्र बनाने, मित्रता का क्षेत्र विस्तृत करने से, क्या लाभ है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि यदि संसार में कुछ काम करना है और कोरी बातों में ही उम्र नहीं गुजारनी है तो कई अत्यन्त स्निग्ध मित्रों को भी छोड़ना पड़ेगा, चाहे इससे मुझे कितना ही दुःख हो।

मसलन मेरे मित्र ईश्वरशरण हैं जिन्हें मैं 'भड़मड़िया'

दोस्त कहता हूँ। यह बहुत भले आदमी हैं। मेरी उनकी मित्रता बहुत पुरानी और बेतकलुफी की है, पर उनके स्वभाव में यह है कि दो मिनट निश्चित नहीं बैठा जाता। जब आयेंगे शोर मचाते हुए, चीजों को उलट-पुलट करते हुए। इनका आना भूचाल के आने से कम नहीं है। इनके आने की मुझे दूर से खबर हो जाती है, यद्यपि मेरा लिखने-पढ़ने का कमरा छत पर है। यदि मेरा नौकर कहता है कि 'वह इस वक्त काम में बहुत ही निमग्न हैं'—तो वह फौरन चीखना शुरू कर देते हैं कि कर्मवक्त को अपने स्वास्थ्य का भी तो ध्यान नहीं, [नौकर से] 'सोहन, कब से काम कर रहे हैं?'—'बड़ी देर से।' शिव-शिव, अच्छा, बस मैं एक मिनट इनके पास बैठूँगा, मुझे खुद जाना है, छत पर होंगे न? मैं पहले ही समझता था, यह कहते हुए वह ऊपर आते हैं और दरवाजे को इस जोर से खोलने हैं कि मानों कोई गोला आकर लगा [आजतक उन्होंने दरवाजा खटखटाया नहीं] और आँधी की तरह दाखिल होते हैं।

'अहा हा ! आखिर तुम्हें मैंने पकड़ लिया, पर देखो, मेरे कारण अपना लिखना बन्द मत करो, मैं हर्ज करने नहीं आया। ओहो ! कितना लिख डाला है ! कहो तबीयत तो अच्छी है ? मैं तो सिर्फ यही पूछने आया था। ईश्वर जानता है मुझे कितना हर्ष होता है कि मेरे मित्रों में एक आदमी ऐसा है जो सुलेखक कह कर पुकारा जा सकता है—जो अब जाता हूँ, बैठूँगा नहीं, एक मिनट नहीं ठहरने का। तुम्हारी कुशल मालूम करनी थी, बस

यह कहकर वह बड़े प्रेम से हाथ मिलाते हैं और अपने जोश में मेरे हाथ को इस कदर दबा देते हैं कि उँगलियों में दर्द होने लगता है और मैं कलम नहीं पकड़ सकता। यह तो एक ओर रहा, अपने साथ मेरे सब विचारों को भी ले जाते हैं। विचार-समूह को जमा करने का प्रयत्न करता हूँ, पर अब वह कहाँ ! यदि देखा जाय तो मेरे कमरे में वह एक मिनट से अधिक नहीं रहे, तथापि वह घंटों रहते तो इससे ज्यादा नुकसान न करते। क्या मैं उन्हें छोड़ सकता हूँ ? मैं इससे इनकार नहीं करता कि उनकी मेरी मित्रता बहुत पुरानी है और वह मुझसे भाइयों की तरह स्नेह करते हैं, पर मैं उन्हें छोड़ दूँगा, चाहे कलेजे पर पत्थर रखना पड़े।

और लीजिये, दूसरे मित्र विश्वनाथ हैं। यह बाल-बच्चों वाले आदमी हैं, और रात-दिन इन्हीं की चिन्ता में रहते हैं। जब कभी मिलने आते हैं तो तीसरे पहर के करीब आते हैं, जब मैं काम से निवृत्त चुकता हूँ या इस कदर थका हुआ होता हूँ कि जी यही चाहता है कि एक घंटे आराम कुर्सी पर पड़ा रहूँ। पर विश्वनाथ आये हैं, उनसे मिलना जरूरी है, उनके पास बातें करने के लिये सिवा अपनी स्त्री और बच्चों की बीमारी के और कोई मजमून ही नहीं। मैं कितनी ही कोशिश करूँ, पर वह उस विषय से बाहर नहीं निकलते। यदि मैं मौसम का जिक्र करता हूँ तो वह कहते हैं, हाँ, बड़ा खराब मौसम है। मेरे छोटे बच्चे को बुखार आ गया, मँझली लड़की खाँसी से

पीड़ित है। यदि पोलिटिक्स या साहित्य-सम्बन्धी चर्चा प्रारम्भ करता हूँ तो वह [विश्वनाथजी] फौरन फरमाने हैं कि भाई भाजकल घर-भर बीमार है। मुझे इतनी फुर्सत नहीं कि अखबार पढ़ूँ। यदि किसी सभा-प्रोसाइटी में आने हैं तो अपने लड़कों को जरूर साथ लिये आते हैं और हरएक से बार-बार पूछते रहते हैं कि तबीयत तो नहीं घबराती? प्यास तो नहीं मालूम होती? कभी-कभी नब्ब भी देख लेते हैं और वहाँ भी किसी से मिलते हैं तो घर की बीमारी ही की चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार मेरे एक मुकदमेवाज मित्र हैं, जिन्हें अपने रियासत के झगड़ों—अपने प्रतिपक्षी की बुराइयों—और जज साहब की स्तुति या निन्दा (स्तुति उस दशा में जब उन्होंने मुकदमा जीता हो) के अतिरिक्त कोई विषय ही नहीं। अपने और नाना भाँति के मित्रों से मैं लक्ष्मणस्वरूप जी की चर्चा विशेष रूप से करूँगा।

आप विक्रमपुर के रईस और जिले भर में एक प्रतिष्ठित पुरुष हैं। उन्हें अपनी योग्यता के अनुसार साहित्य से बहुत अनुराग है। साहित्य पढ़ने का इतना नहीं, जितना साहित्य-सेवियों से मिलने-जुलने और परिचय प्राप्त करने का। उनका विचार है कि विद्वानों का थोड़ा-बहुत सत्कार करना धनिकों का कर्त्तव्य है। वह एक बार मेरे यहाँ तशरीफ लाये और बड़े आप्रह से मुझे विक्रमपुर ले गये, यह कहकर कि—‘शहर में

रात-दिन कोलाहल और अशांति रहती है, गाँव में कुछ समय रहने से जल-वायु का परिवर्तन भी होगा और वहाँ लिखने का काम भी अधिक निश्चिन्तता से कर सकोगे। मैंने एक कमरा खास तुम्हारे लिये ठीक कराया है, जिसमें पढ़ने-लिखने का सब सामान प्रस्तुत है। थोड़े दिन रहकर चले आना।'

मैं ऐसे प्रेमपूर्ण आग्रह पर ना कैसे कर सकता था। मुहूर्त-सर सामान लिखने-पढ़ने का लेकर उनके साथ हो लिया। 'प्रतिभा' संपादक से प्रतिज्ञा कर चुका था कि यथासमय एक लेख उनकी सेवा में भेजूँगा। लक्ष्मणस्वरूप जी की कोठी पर पहुँचकर मैंने वह कमरा देखा जो मेरे लिये ठीक किया गया था। यह कमरा कोठी की दूसरी मंजिल पर था, और खूब सजाया गया था। इसकी एक खिड़की बाग की ओर खुलती थी और अत्यन्त हृदयहारी दृश्य मेरी आँखों के सामने होता था। प्रातःकाल मैं नाश्ता के लिये बुलाया गया। जब चाय का दूसरा प्याल पी चुका तो अपने कमरे में जाने के लिये उठता ही था कि चारों ओर से आग्रह होने लगा—'हैं हैं, कहीं ऐसा गजब न करना कि आज ही से काम शुरू कर दो, अपने दिमाग को कुछ आराम तो दो, और आज का दिन तो विशेष कर इस योग्य है कि दृश्य का आनन्द लिया जाय। चलिये, गाड़ी तैयार कराते हैं, दरिया की सैर होगी, फिर वहाँ से दो मील दौलतपुर है, आपको वहाँ के रईस राजा हृदयनारायण सिंह से मिलायेंगे।''

मेरा माथा वहीं ठनका कि यदि यही दशा रही तो यहाँ भी अवकाश मिल चुका ! अस्तु इस समय तो मैं सैकड़ों वहाने बना कर बच गया, और मेरे कारण यह भी रुक गये—न जा सके, पर मुझे बहुत जल्द मालूम हो गया कि जिस दुर्लभ पदार्थ—एकान्तवास और अवकाश—के लिये मैं आतुर था वह मुझे यहाँ भी प्राप्त न होगा ।

मैं जल्दी से उठकर अपने कमरे में आया और उस समय जरा ध्यान से उस मेज के सामान को देखा जो मेरे लिखने-पढ़ने के लिये तैयार की गई थी । मेज पर बहुत कीमती कामदार कपड़ा पड़ा हुआ था, जिसपर स्याही की एक बूँद गिराना महापाप से कम न होगा । चाँदी की दावात पर स्याही देखता हूँ तो सूखी हुई । अंगरेजी कलम निहायत कीमती और दुष्प्राप्य, पर एक-आध को छोड़ निब किसी में नहीं । ब्लॉटिंग पेपर एक मखमली जिल्द की किताब में, पर लिखने के कागज का पता नहीं । इसी प्रकार बहुत-सा बढ़िया बहुमूल्य सामान मेज पर था, पर इसमें से बहुत कुछ मेरे काम का नहीं, और जो चीजें जरूरत की थीं, वे मौजूद नहीं । अन्त में मैंने अपना वही पुराना, पर काम का बक्स और अपनी मामूली दावात और कलम (जिसने अबतक बड़ी ईमानदारी से मेरी सहायता की थी—मेरे उड़ते हुए विचारों को बड़ी कुर्ती से पकड़ कर कागज के पिजरे में बन्द किया था)—निकाला और लिखना शुरू किया । यह जरूर हुआ कि जिन

मधुरभाषी पंछियों की प्रशंसा करते कवि नहीं थकते, (उन पंछियों) की कृपा से इस समय मैं प्रसन्न नहीं हुआ कि सबके सब नीचे वृक्ष पर जमा हो गये और शोर मचाना शुरू कर दिया । तथापि प्रयत्नपूर्वक मैंने उधर से कान बन्द कर लिये, और लिखने में सर्वात्मना संलग्न हो गया... ..“तन् तनन् तन्त-नाना, छन् ततन् तन् तन् तन्”—मैं ऐसा ध्यान में मग्न था कि इधर-उधर की कुछ सुध न थी । इस तन् तन् ने चौंका दिया । ऐँ, यह क्या है ? ओपफो ! अब मैं समझा मेरे कमरे के करीब लक्ष्मणभ्वरूपजी के छोटे भाई का कमरा है, यह गाने-बजाने में बहुत प्रवीण हैं, इस समय सितार से शौक फरमा रहे हैं, बहुत खूब बजा रहे हैं—

“जमुना तलफत बीती रैन ।

त्रिविध समीर तोर-सम लागत विषसम कोकिल वैन ।”

वाह क्या कहना है, कमाल करते हैं !

कोई आध घंटा उन्होंने सितार बजा कर, मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे गानामृत पान कराकर तृप्त किया । फिर किसी कारण से वे अपने कमरे से चले गये । सन्नाटा हो गया तो मुझे फिर अपने काम का ध्यान आया ।

ऐ मेरे विचारो ! तुम्हीं मेरी निधि हो, मेरे मस्तिष्क में फिर आ जाओ—यह प्रार्थना करके मैंने कागज पर नजर डाली कि देखूँ कहाँ छोड़ा है । मैं इस वाक्य तक पहुँचा—‘हम इस विस्तृत और गहन विषय पर

जितना विचार करते और ध्यान दौड़ाते हैं उतनी ही इसकी गहनता और जटिलता—इसके आगे मैं क्या लिखनेवाला था ‘नदी की बालुका-राशि के समान’—‘नहीं ऐसा साधारण और असङ्गत वाक्य तो न था, कोई उत्कृष्ट उमा थी, बड़े सुन्दर ओजस्वा शब्द थे, ईश्वर जाने क्या था, क्या न था, अब तो दिमाग में उसका पता भी नहीं। गानेवाले साहब तो शिकायत ही कर रहे थे कि—‘त्रिविध समीर तीर-सम लागत’ पर मेरे विचाररूप पंछी सचमुच ही इस तीर शब्द को सुनकर एकदम दिमाग की डाली से उड़ गये ! अच्छा, अब उस वाक्य का मुझे नये सिरे से ठीक करना चाहिये, गहनता और जटिलता की जगह कुछ और होना चाहिये—

‘हम इस विषय पर जितना विचार करते हैं, उतना ही इन विज्ञानरूप रत्नों को जो हमारे देश और जाति के विद्याकोश को भरने के लिये पर्याप्त हैं और जिनका महत्त्व—आप कहाँ भूल पड़े, इतने दिनों कहाँ रहे ?—यह क्या असम्बद्ध वाक्य हुआ ? ‘आप कहाँ भूल पड़े, इतने दिनों कहाँ रहे’—वह वाक्य तो लक्ष्मणस्वरूप जी ने किसी मित्र से कहे हैं, जो अभी उनसे मिलने आये हैं, मैं अपनी धुन में उन्हें ही लिख गया ! हाँ तो काटकर फिर ठीक करना चाहिये—‘जिनका महत्त्व, देश और जाति को विदित नहीं हुआ और’—कोई दरवाजा खट-खटाता है। कौन है ?—‘जी मैं हूँ मोहन। सरकार ने कहा है कि यदि आपको तकलीफ न हो तो नीचे जरा-सी देर के लिये

तशरीफ लाइये। कोई साहब आये हुए हैं और सरकार उन्हें आपसे मिलाना चाहते हैं—।' जी नहीं चाहता था, पर उठा और नीचे गया। लक्ष्मणस्वरूप जी के मित्र राजा हृदय नारायण सिंह आये हुए थे; उनसे मेरा परिचय कराया गया। थोड़ी देर बाद वह तशरीफ ले गये, मुझे छुट्टी मिली। मैंने जी जमाकर फिर लिखना शुरू किया, थोड़ी देर बीती थी कि मोहन ने फिर दरवाजा खटखटाया, मालूम हुआ मेरी फिर याद हुई। हमारे मेजबान के कोई और मित्र आये हैं और मैं उन्हें दिखाया जाऊँगा। मानो मैं भी उस अरबी घोड़े के तुल्य था जिसे मेरे मेजबान मित्र ने हाल ही खरीदा था, और जो प्रत्येक आनेवाले मित्र को अस्तबल से मँगा कर दिखाया जाता था। इन महाशय से छुट्टी पाकर और भागकर मैं फिर अपने कमरे में आया। विचार-शृंखला फिर विच्छिन्न हो गई थी, खयालात गायब हो गये थे, वाक्य फिर नये सिरों से बनाना पड़ा। जी उचाट हो गया। बड़ी कठिनता से फिर बैठा और लिखना शुरू किया। इस बार सौभाग्य से कोई आघा घंटा ऐसा मिला जिसमें कोई आया गया नहीं, अब मेरी कलम तेजी से चल रही थी और मैं लिख रहा था। 'हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे देश के सुयोग्य युवकजन जिन्हें नवीन आविष्कारों और अनुसन्धानों से अनुराग है और जो कोलम्बस के समान नवीन विचार और नई दुनिया की उद्भावना में अपने को'—

दरवाजे पर फिर दस्तक—'क्या है ?' 'हुजूर खाना तैयार है,

परोसा जा चुका है।' 'अच्छा'—'अपने को संकट में डालने से भी नहीं डरते, अवश्य इस ओर ध्यान देंगे, और अपने उद्योग और परिणाम से वर्त्तमान',—दरवाजा फिर खटखटाया गया—'हाँ, हुजूर ! सरकार आपका इन्तजार कर रहे हैं, खाना ठंडा हुआ जाता है।' 'ओफो मुझे खयाल नहीं रहा, सरकार से निवेदन करना, मेरा इन्तजार न करें। मैं फिर खा लूँगा, इस वक्त मुझे कुछ ऐसी भूख नहीं' 'और आनेवाली सन्तानों को उपकृत करेंगे। ये ही वे नवयुवक हैं जो जाति की नौका को, ईश्वर की सहायता पर विश्वास करके आपत्तियों से बचाते और सफलता के किनारे लगाते हैं, जीवन और मृत्यु की कठिन समस्या'—।

[दस्तक]—'क्या है ?' 'सरकार कहते हैं कि यदि आप थोड़ी देर में खाँयेंगे तो हम भी उसी वक्त खाँयेंगे, पर खाना ठंडा होकर खराब हो जायगा।' 'अच्छा भाई लो अभी आया'—यह कहकर मैं खाने के लिये जाता हूँ, सबसे क्षमा माँगता हूँ। मेजबान बड़े कृपापूर्ण विनीत भाव से कहते हैं, 'चेहरे पर थकान मालूम होती है, क्या बहुत लिख डाला ? देखो मैं कहता न था कि शहर में ऐसी फुरसत और निश्चितता कहाँ ! इसपर 'ठीक है, उचित है' के अतिरिक्त और मैं क्या कहता ! अब खाने पर आग्रह होता है, जिस चीज से मुझे रुचि नहीं, वही खिलाई जाती है। भोजन की समाप्ति पर मेजबान साहब फरमाते हैं—तीसरे पहर को तुम्हें गाड़ी में चलना होगा, मैं तुम्हें इस वास्ते यहाँ नहीं लाया कि सख्त दिमागी काम करके अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लो। कमरे में

वापस आकर मैं थोड़ी देर इसलिये लेटता हूँ कि खयालात जमा कर लूँ और फिर लिखना शुरू कर दूँ, पर अब खयालात कहाँ ? मजमून उठाकर देखता हूँ 'जीवन और मृत्यु की कठिन समस्या के सम्बन्ध में लिखनेवाला था, इन शब्दों के पश्चात् कौन से शब्द दिमाग में थे ? अब कुछ याद नहीं कि इस वाक्य की पहले वाक्यों से किस प्रकार संगति करनी थी । यों ही पड़े-पड़े नोंद आ जाती है, तीसरे पहर फिर उठता हूँ तो मस्तिष्क ठीक स्वस्थ है, जीवन और मृत्यु की कठिन समस्या बिल्कुल समझ में आ जाती है, पूरा वाक्य दर्पण की तरह साफ दिखाई देता है । मैं खुशी-खुशी उठकर मेज पर गया, और लिखना चाहता था कि फिर वही दस्तक ! नौकर सूचना देता है कि गाड़ी तैयार है, सरकार कपड़े पहने आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, मैं फौरन नीचे जाता हूँ तो पहली बात जो वह कहते हैं वह यह होती है—'आज तो दस्ते के दस्ते लिख डाले । मैं सच्ची बात कहूँ कि कुछ भी नहीं लिखा तो वह हँसकर उत्तर देते हैं कि आखिर इस शील-संकोच की क्या जरूरत है—

‘खुदा के वास्ते झूठी न खाइये कसमें ।

मुझे यकीन हुआ और मुझको एतवार हुआ ।’

मिल-मिलाकर शाम को वापस आए, खाने के बाद बातें होती हैं । सोने के वक्त अपना दिन भर का काम उठाकर देखता हूँ तो एक पृष्ठ से ज्यादा नहीं, वह भी असम्बद्ध । क्रोध में आकर उसे फाड़ कर फेंक देता हूँ । और दूसरे दिन अपने

आतिथेय मित्र को नाराज करके अपने घर लौट आता हूँ। मैं कृतघ्न कहा जाऊँगा, पर मैं मजबूर हूँ। इस प्रिय कृपालु मित्र को भी छोड़ दूँगा। मैंने कुछ विस्तार से इनका हाल कहा है, पर यह न सोचना कि यहीं उन मित्रों की संख्या समाप्त हो गई है जिनसे मैं छुट्टी चाहता हूँ। नहीं, अभी बहुत से बाकी हैं। यथा— एक महाशय हैं, जो मुझसे यों कभी नहीं मिलते जब आते हैं, मैं उनका मतलब समझ जाता हूँ। यह महाशय हमेशा कर्ज माँगने के लिये आते हैं। एक महाशय हैं जो सदा ऐसे समय आते हैं जब मैं बाहर जाने को होता हूँ। एक महाशय हैं कि जब मुझसे मिलते हैं कहते हैं—‘भाई, एक असें से मेरा दिल चाहता है तुम्हारी दावत करूँ’—पर कभी अपनी इस इच्छा को पूरा नहीं करते। एक मित्र हैं, वह आते ही प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं, जब उत्तर देता हूँ तो ध्यान से सुनते नहीं, अखबार उठाकर पढ़ने लगते हैं या गाने लगते हैं। एक साहब हैं, जब आते हैं अपनी ही कहे जाते हैं, मेरी नहीं सुनते।

यह सब मेरे हितैषी और कृपालु हैं, पर मैं अपनी तबीयत को क्या करूँ ? साफ-साफ कहता हूँ और इनमें प्रत्येक से कह सकता हूँ—

‘मुझ पै अहसाँ जो न करते तो यह अहसाँ होता।’

अब जब कि मैंने यह हाल लिखना शुरू कर दिया, उचित प्रतीत होता है कि कुछ अन्य मित्रों के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट कर दूँ। दरवाजे पर एक गाड़ी आकर रुकी, मैं

समझ गया कि कौन साहब तशरीफ ला रहे हैं। मैं उनकी शिकायत न करूँगा, क्योंकि यह क्या आश्चर्य नहीं है कि मैं तीन घंटे से यह लेख लिख रहा था और किसी कृपालु ने कृपा नहीं की। इसलिये उनकी इस कृपा के उपलक्ष में मैं इस लेख को इस अपूर्ण दशा में छोड़ता हूँ और अपने मित्र का स्वागत करता हूँ। यह मित्र मेरे स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखते हैं, जब आते हैं मुझ पर इस कारण नाराज होते हैं, तुम अपने स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखते। मैं जानता हूँ कि इस वक्त भी ये किसी-न-किसी हकीम या डाक्टर का हाल सुनायेंगे, जो बड़ा अनुभवी है, या कोई अनुभूत योग मेरे लिये किसीसे माँग कर लाये होंगे।—

‘आइए, आइए। चित्त प्रसन्न है ? बहुत दिनों में पधारे !’

यही मेरी मातृभूमि है

[प्रेमचंद]

(१)

आज पूरे ६० वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि, प्यारी मातृभूमि के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से विदा हुआ था, और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचारित हो रहा था। हृदय उमंगों और बड़ी-बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान् हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और कानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकती। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े-बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ खूब व्यापार किया, और व्यापार से घन भी खूब पैदा किया, तथा घन से आनंद भी मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य में अपना सानी आप ही थी। उसके लावण्य और सुन्दरता की ख्याति

तमाम अमेरिका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजायश भी न थी, जिसका सम्बन्ध मुझसे न हो। मैं उस पर तन-मन से आसक्त था, और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे, जो सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हे-नन्हें पौत्र गोद में बैठे हुए थे, जब कि मैंने प्यारी मातृभूमि के अंतिम दर्शन करने के लिये पैर उठाए। मैंने अनंत धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे-प्यारे जिगर के टुकड़े नन्हें-नन्हें बच्चे आदि अमूल्य पदार्थ केवल इसीलिये परित्याग कर दिए कि प्यारी भारत-जननी के अंतिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ, दस वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाकी है कि मैं मातृभूमि का रजकण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि उस समय भी थी, जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातों और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी, और जब मेरे युवा पुत्र प्रातःकाल आ कर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते। उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा-मा खटकता रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है, और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे धन था, पत्नी थी, लड़के थे, और जायदाद थी; मगर न मालूम क्यों, मुझे रह-रह कर मातृभूमि के टूटे-फूटे झोपड़े, चार छँ बीघे मौरूसी जमीन और बालपन के लँगोटिण यारों की

याद अक्सर सता जाया करती। प्रायः अपार प्रसन्नता और आनंदोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था कि 'यदि मैं अपने देश में होता...!'

(२)

जिस समय मैं बम्बई में जहाज से उतरा, मैंने पहले काले-काले कोट-पतलून पहने, टूटी-फूटी अँगरेजी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अँगरेजी दूकानें, ड्राम और मोटरगाड़ियाँ दीख पड़ीं, इसके बाद खर-टायरवाली गाड़ियों और मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड़ हुई। फिर रेल का विक्टोरिया-टर्मिनस स्टेशन देखा। बाद में रेल पर सवार होकर हरी-हरी पहाड़ियों के मध्य स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आँखों में आँसू भर आए, और मैं खूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिनके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इंग्लैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं।

रेलगाड़ी जंगलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग को मात कर रहा था। मैं जब गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों चछल रहा था। अब अपना प्यारा घर देखूँगा—अपने बाल्यपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस

समय बिलकुल भूल गया था कि मैं ६० वर्ष का बूढ़ा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे पग तेज हो जाते थे, और हृदय में अकथनीय आनन्द का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़ कर दृष्टि डालता। अहा! यह वही नाला है, जिसमें हर रोज घोड़े नहलाते थे, और स्वयं भी डुबकियाँ लगाते थे, किन्तु अब उनके दोनों ओर काँटेदार तार लगे हुए थे, और सामने एक बँगला था, जिसमें दो अँगरेज बन्दूकें लिए इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख्त मनाही थी।

गाँव में गया, और निगाहे बालपन के साथियों को खोजने लगीं; किन्तु शोक! वे सबके-सब मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफिक्री के आनंद लूटे थे, और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

यह स्थान गैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-फिरते नजर आते थे, जो अदालत-कचहरी और पुलिस की बातें कर रहे थे। उनके मुखों से चिंता, निर्जीवता और उदासी प्रदर्शित होती थी। सब सांसारिक चिंताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हष्ट-पुष्ट, बलवान्, लाल चेहरेवाले नवयुवक कहीं न देख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान

पर, जिसकी जड़ मेरे हाथों ने ढाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूत था। उसमें दुर्बल, कांति-हीन, रोगियों की-सी सूतवाले बालक फटे कपड़े पहने बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देख कर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा—‘नहीं-नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने में इतनी दूर से नहीं आया हूँ, यह मेरा प्यारा भारतवर्ष नहीं।’

बरगद के पेड़ की ओर दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनंद उड़ाए थे, जो हमारे छुटपन की क्रीडा-स्थल और युवावस्था का मुखप्रद कुंज था। आह ! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा और हृदय में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःख-दायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताज़ी हो गईं कि घंटों पृथ्वी पर बैठे-बैठे मैं आँसू बहाता रहा। हा ! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़ कर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारा झूला थीं, और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे। मेरे गले में बाँधे डालकर खेलनेवाले लंगोटिए यार, जो कभी रुठते थे, कभी मनाते थे, कहाँ गए ? हाय ! मैं बिना घर-बार का मुसाफिर अब क्या अकेले ही हूँ ? क्या मेरा कोई भी साथी नहीं ? इस बरगद के निकट अब थाना था, और बरगद के नीचे कोई लाल साफा बाँधे बैठा था। उसके आस-पास दस-बीस लाल पगड़ीवाले आदमी करबद्ध खड़े थे। वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहने एक दुर्भिक्ष-

ग्रस्त पुरुष, जिस पर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं !

इधर से निराश हो कर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक्त पिताजी गाँव के अन्य बुजुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-कहकहे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कलावाजियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपंच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव-भर की गाएँ रखी जाती थीं, और बछड़ों के साथ हम यहीं किलोलें किया करते थे। शोक ! अब उस चौपाल का पता तक न था ! वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चोकी और ढाकखाना था।

उस समय उसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी, और गुड़ की सुगंध से चित्त प्रसन्न हो जाता था। हम और हमारे साथी गँडेरियों के लिये वहाँ बैठे रहते, और गँडेरियाँ करनेवाले मजदूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हजारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिला कर पिया था। आस-पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर वहाँ आते थे और उनमें रस भर कर ले जाने थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे, किन्तु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन

लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तंबोली और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देख कर मैंने एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा—“महाशय, मैं एक परदेशी आदमी हूँ, रात-भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजियेगा ?” इस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा, और कहा—“आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।” मैं आगे गया, और वहाँ भी यही उत्तर मिला। पाँचवीं बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिए। चने मेरे हाथ से छूट पड़े और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा—“हाय ! यह मेरा देश नहीं है; यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।”

मैंने एक सिगरेट की डिब्बिया खरीदी, और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा। अचानक मुझे धर्मशाला का स्मरण हो आया, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक ! शोक ! महान् शोक ! धर्मशाला ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, किन्तु उसमें गरीब यात्रियों के टिकने के लिये स्थान न था। मदिरा, दुराचार और जुए ने उसे अपना घर बना रक्खा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी, और मैं जोर से चिल्ला उठा—“नहीं, नहीं, नहीं, और हजार बार नहीं—यह मेरा

प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर भारत कदापि नहीं है।”

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने कर्कश स्वर में गीत गा रहे थे। मैं अपना दुःखित हृदय लेकर उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया, और सोचने लगा—अब क्या करूँ ? क्या फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ, और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी में मिलाऊँ ? अब तक मेरी मातृभूमि थी; मैं विदेश में जरूर था, किन्तु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मैं देश-विहीन हूँ, मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर सिर रखे मौन बैठा रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। सइसा घटेवाले ने तीन बजाए, और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्गद हो गया। यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है। मैं तुरन्त उठ खड़ा हुआ, और क्या देखता हूँ कि १५-२० वृद्ध स्त्रियाँ, सफेद धोतियाँ पहने, हाथ में लोटे लिए, स्नान को जा रही हैं, और गाती जाती हैं—

“हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—”

मैं इस गीत को सुन कर तन्मय हो ही रहा था कि इतने में मुझे बहुत आदमियों की बोलचाल सुन पड़ी। उनमें से कुछ लोग हाथों में पीतल के कमंडलु लिये हुए शिव-शिव, हर-हर, गंगे-गंगे,

नारायण-नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। मधुर, भावमय और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की रमणियों का आलाप सुना था, सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, उनके हृदय-कर्षक वचनों का आनन्द उठाया था, मैंने सुरिले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किन्तु जो आनन्द, जो मजा और जो सुख मुझे इस राग में आया, वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने खुद गुनगुना कर गाया—

“हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—”

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनंदातिरेक से मेरा हृदय आनंदमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया, और छै मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा, जिसका नाम पतित-पावनी है, जिनकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिन्दू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित-पावनी भागीरथी गंगा मेरे प्यारे गाँव से छै-सात मील पर बहती थी। किसी समय मैं घोड़े पर चढ़कर नित्य स्नान काने जाता था। गंगा माता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हजारों मनुष्यों को इस ठंडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मंत्र

जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में संलग्न थे, और कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे, और कुछ लोग सस्वर वेद-मंत्र पढ़ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ, और मैं जोर से कह उठा—“हाँ हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृ-भूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है, और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी! इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है।”

(५)

मैं विशेष आनन्द में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतार कर फेंक दिया, और गंगा माता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन भर निर्दय लोगों के साथ रहने के बाद सन्ध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़ कर चला आवे, और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं, और गंगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गंगा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-सायं गंगा स्नान करता हूँ, और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गंगा-माता की लहरों की भेंट हो।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं, अगर अब मैं यह

गंगा-माता का तट और अपना प्यारा देश छोड़ कर वहाँ नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गंगाजी को सौंपूँगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती। क्योंकि यह मेरा प्यारा देश और यही प्यारी मातृभूमि है। वस, मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मैं अपनी प्यारी मातृभूमि में ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

प्रेम

[ब्रजनन्दन सहाय]

प्रेम के स्वप्नमय, सुखमय, आमोदप्रद विस्तीर्ण राज्य में करुणामयी कुहकिनी कल्पना-देवी की सहायता से सानंद भ्रमण करने पर भी भुझे शान्ति न मिली, तब मैं अधीर हो गया। चित्त बहुत चंचल हो उठा; हृदय में जाना प्रकार की चिन्ता-तरंगें छठने लगीं। व्याकुल हो कर मैंने मन से पूछा “क्यों जी, क्या मानव-जीवन एक आनन्दप्रद नाट्य शाला नहीं है ? क्या सौन्दर्य की चिन्ता, कवित्व का स्वप्न और प्रेम की साधना जीवन का उच्च उद्देश्य नहीं है ? वासन्त-समीरणोच्छ्वसित, सुधांशु-रस-सावित, कोमल मधुर-स्निग्ध-कुसुममय कानन में मधुर-मत्त मिलिंदवत् विचरण करने ही के लिये क्या यह जीवन मनुष्य को नहीं दिया गया है ?” मन ने कहा—“क्यों ?” मैंने कहा—“ठीक समझ में नहीं आता; किन्तु यदि ऐसा होता, तो संसार सुख का आगार होता; यहाँ दुःख का, शोक का, वियोग का लवलेह भी न देख पड़ता। पर कहाँ, ऐसा तो नहीं है।”

मन ने मेघ-गर्जन-से घोर गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—“तुम भूलते हो, जान कर भी अनजान हो रहे हो। यह संसार शिक्षा-स्थल है, कर्म-क्षेत्र है, भोग-क्षेत्र नहीं।” उसने कहा—“देखो,

इस कवित्व, इस सौन्दर्य, इस सुख और इस शोभा के बीच एक स्थिर, गम्भीर, दृढ़ मूर्ति खड़ी है। उसमें दया नहीं है। उसमें माया नहीं है। उसे किसी पर ममता नहीं है। वह किसी के सुख-दुःख की ओर भ्रू-क्षेप नहीं करती; किसी से सहानुभूति नहीं रखती। मानवगण उसे 'कर्त्तव्य' कहते हैं। उसका आनन हास्यहीन, हृदय करुणाविहीन, नेत्र शुष्क, कान्ति रुक्ष, आदर्श महान् और आदेश अनुल्लंघनीय है।

“मनुष्य जब तक कर्त्तव्य की उपासना नहीं करता, तब तक इस संसार में सुखी नहीं होता, उसे शान्ति नहीं मिलती, उसकी तपस्या पूरी नहीं होती, उसके जीवन का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। अतएव यदि कुछ काम की बात करना चाहते हो, अपने जीवन को सार्थक करना चाहते हो, संसार-यात्रा को सफल बनाना चाहते हो, नर रह कर नारायण के पद पर पहुँचने की इच्छा रखते हो, अपनी कीर्त्ति-लता को हरी-भरी, लहलहाती हुई देखना चाहते हो, अपने पीछे अपना नाम जगत् में अमर करना चाहते हो—अचल छोड़ना चाहते हो, तो कर्त्तव्य की पूजा करो। उसी की वेदी पर स्वार्थ की बलि दो, उसकी यज्ञाग्नि में अपनी आहुति दो।”

मैं सहम गया। कहने लगा—“तुम यह क्या कह रहे हो ? मैं प्रेम-पथ का यात्री ठहरा; मुझे मेरी राह से विचलित क्यों करते हो ? मैं प्रेम का भिखारी प्रेमान्ध ठहरा; प्रेम-मुग्ध होने के कारण आत्म-विस्मृति ही मुझे सुखप्रद है। अनुराग से कर्त्तव्य

कोसों भागता है । सानुराग हृदय से क्या कभी कर्त्तव्य की पूजा हो सकती है ? प्रेमी का हृदय दुर्बल होता है, कर्त्तव्य-परायण का प्रौढ़ । प्रेमी विवरा रहता है, कर्त्तव्य-परायण वद्ध-परिकर । एक कठोर है, दूसरा करुण । एक अपने-आप में मस्त है, दूसरा दूसरे के लिये अपने को मिटानेवाला । भला इसमें एक दूसरे के साथ क्या सम्पर्क है ? मेरी समझ में तो अनुराग कर्त्तव्य का शत्रु है ।”

मन ने कहा—“नहीं ! कदापि नहीं । तुम भूलते हो । अनुराग ही कर्त्तव्य का प्राण है । अनुरागहीन हृदय कर्त्तव्य का क्या आदर करेगा—कर्त्तव्य का क्योंकर पालन करेगा ? क्या अभी तक तुमको इतना भी ज्ञात नहीं कि प्रेम का मूल-मंत्र आत्मोत्सर्ग—प्रेम-पात्र के लिये अचिन्तित, असंकुचित, सानन्द आत्मोत्सर्ग—ही है ? इधर यह आत्मोत्सर्ग ही कर्त्तव्य का भी संचालन करने-वाली शक्ति है । तब तुम्हीं कहों, एक का दूसरे से द्वन्द्व कहाँ है ? एक का दूसरा शत्रु क्योंकर हुआ ? क्या तुमको विदित नहीं कि प्रेम की कसौटी कर्त्तव्य-पालन ही है ? पौराणिक समय से ले कर आज तक यही देखने में आ रहा है । रामायण तथा महा-भारत जैसे प्रधान पुराणों के पृष्ठों को देखो । कर्त्तव्य की ही कठिन आँच में तप कर प्रेम समुज्ज्वल हुआ है । जब तक प्रेम का कर्त्तव्य के साथ संयोग नहीं हुआ, प्रेम की प्रगाढ़ता का पता नहीं चला ।

“शिव-सती प्रेम के आदर्श-स्वरूप हैं । सती ने श्री सीता का वेष धारण किया । शंकरजी असमंजस में पड़े । इधर प्रेम खींचता है, उधर कर्त्तव्य ।

‘परम प्रेम नहिं जात तजि, किये प्रेम बड़ पाप ।’

“प्रेम कहता है, देखो, सती में कितने गुण हैं, कितना सौन्दर्य है, कितना अनुराग है। कर्त्तव्य कइता है, खबरदार ! यही परीक्षा का समय है। सावधान - कहीं धर्मभ्रष्ट न होना पड़े।

‘इहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।

सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं ॥

“कर्त्तव्य की विजय हुई। प्रेम का आनन प्रफुल्लित हुआ। दिन-दूना रात-चौगुना उसमें बल आने लगा। हजारों वर्षों तक शिव को सती का ध्यान वैधा रहा। वियोग के ताप से तप्त हो कर, प्रेमाश्रु से धौत हो कर, उसकी कान्ति बढ़ी। कर्त्तव्य ने सहारा दिया। प्रेम और कर्त्तव्य का चिर-संयोग श्रीपार्वती के सुन्दर अचल सोहाग में हुआ।

“राजा हरिश्चन्द्र चांडाल के दास हैं ! मसान में, मरघट पर, कर उगाहना उनका कर्त्तव्य है। घोर अन्धकारमय आधी रात का समय है। गगन घन-घटा से आच्छादित है। वृष्टि हो रही है। रोहिताश्व के शव को ले कर शैव्या मसान में आती है। अनाथ अबला घोर विलाप कर रही है। दया ने राजा के हृदय को गद्गद कर दिया। शैव्या अपने को संभाल न सकी। प्रेम का प्रवाह उमड़ आया। कर्त्तव्य लावित हो कर डूबना चाहता है। अपने संकल्प में दृढ़ राजा ने कर्त्तव्य के सामने प्रेम की अवहेलना की। मन में बल का संचार हुआ। रानी से मसान का कर देने के लिये अनुरोध किया। संसार में उनकी कीर्ति अचल हुई।

“दशरथ को वृद्धावस्था में पुत्र-रत्न प्राप्त हुए । चक्रवर्ती राजा लड़कों को प्राणों से भी अधिक चाहते थे । उनके हृदय में श्रीराम के प्रति कई जन्मों का संचित निष्कपट वात्सल्य और स्नेह था । उनकी धारणा थी—

‘जिए मीन बरु बारि बिहीना ;

मनि बिनु फनिक जिए दुख-दीना ।

कहाँ सुभाव, न छल मन माहीं ;

जीवन मोर राम बिनु नाहीं ।’

“धोखे में आ कर उन्होंने श्रीराम को वन भेजने की प्रतिज्ञा की । कैकेयी ने हठ किया । राजा असमंजस के संकट में पड़े । सत्य छोड़ें या प्रेम ?

‘भइ गति साँप छलूँदर केरी ।’

“अन्त में पुत्र को वन-गनन से निवृत्त न कर सके । सुकुमार पुत्र-वधू के साथ दोनों नेत्रों के तारे बल्कल-वसन धारण कर वन को प्रस्थान कर गये । कर्त्तव्य की वेदी पर राजा दशरथ ने प्रेम की बलि दे दी । किन्तु उनके दुर्बल प्राण प्रियजन-वियोग के कठिन ताप को न सह सके । अपनी कीर्ति को अमर बना कर राजा ने सुरलोक की राह ली । इसी से आज भी कवि-कोविद उनके प्रेम की प्रशंसा कर रहे हैं । उनका सच्चा प्रेम कर्त्तव्य का पक्षपाती था, इसी कारण आज भी उनकी स्तुति की जा रही है—

‘बंदों अवध-भुवाल, सत्य प्रेम जेहि राम पर ।

बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ ॥’

“दशरथ-तनय रामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं; एक-पत्नी-व्रत के आदर्श हैं। रघु-कुल में जन्म लेकर, चक्रवर्ती राजा होने पर भी, आपने श्रीसीता के सिवा किसी दूसरी स्त्री का मुँह नहीं देखा। श्रीमती जनकनन्दिनी के प्रेम में आप उन्मत्त हैं। सुख से दिन कट रहे हैं। कर्त्तव्य का आदेश हुआ—‘राजा का धर्म है प्रजा को सन्तुष्ट रखना।’ श्रीराम आदर्श पति हैं; आदर्श राजा हैं। इधर प्रेम के पुजारी हैं, तो उधर कर्त्तव्य के सच्चे सेवक। एक ओर प्रेम खींचता है, तो दूसरी ओर कर्त्तव्य। श्रीमती के साथ कैसा व्यवहार किया जाय ? कर्त्तव्य की जीत हुई। सीता का वन-वास हुआ। आत्मोत्सर्ग, स्वार्थ-त्याग और सुख-शान्ति के परित्याग द्वारा रघुकुल-दीपक श्रीरामचन्द्रजी ने कर्त्तव्य की पूजा की। प्रेम की विजय-वैजयन्ती फहरा उठी। कर्त्तव्य से विमुख न होने के कारण ही आत्मा को शान्ति मिली। अनुराग-जनित संयोग-सुख से वंचित तो हुए, किन्तु हृदय-वाटिका में प्रेम-वल्लरी और भी अधिक लहलहा उठी, क्योंकि वह एकान्त में बैठ-बैठ कर अश्रु-जल से उसे सींचते रहे।

“त्रेता को छोड़ कर अब द्वापर-युग में आइये। वृन्दावन-विहारी, गिरिधारी गोपाल गोपिकाओं के प्रेम में मग्न हो रहे हैं। आनन्द का सागर उमड़ा हुआ है। जहाँ आँखें जाती हैं, वहाँ प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द देख पड़ता है। अक्रूर निमंत्रण लेकर आते हैं, और यदुवंशियों की ओर से, प्रेम-देव गोपाल से, कर्म क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये साग्रह अनुरोध करते हैं। प्रेम-

मय प्रमोद-कानन को छोड़कर यादव-कुत्त-कमल-दिवाकर कृष्णचंद्र को कर्त्तव्य-पालन के लिये कर्म-क्षेत्र में उतरना पड़ा। प्रियजनों का वियोग जन्म भर सहना पड़ेगा। प्रेम-मूर्ति को प्रेम से वंचित, प्रिय-जनों से दूर, प्रेम-केन्द्र से अलग रहकर कर्त्तव्य की उपासना करनी पड़ेगी। श्रीकृष्णचन्द्र प्रेम को मन में गुप्त रख कर, हृदय पर पत्थर रखकर, हँसते-बोलते प्रसन्न मुख मथुरा को गये। दूर निवास के कारण प्रेम उज्ज्वल से भी उज्ज्वल हुआ। यदि प्रेम ही में फँस कर यदुनन्दन कर्त्तव्य से विमुख होते, तो हमलोगों को गीता के गूढ़ रहस्यों के सुनने और जानने का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त होता !

“विचारो तो सही, जो प्रेम के वशीभूत होकर कर्त्तव्य से विमुख हुआ, उसकी क्या दशा हुई, और उसको संसार में कितना दुःख भोगना पड़ा ? अन्धे धृतराष्ट्र केवल आँखों ही के अन्ध नहीं थे, बल्कि अपने पुत्र दुष्ट दुर्योधन के स्नेह में हृदय के भी अन्ध हो रहे थे। सब कुछ जानने-सुनने पर भी, सब बातों की जानकारी रखने पर भी, वे अपने भतीजे पाण्डवों के स्वत्व की ओर, अपने पुत्र के दुराचार और अन्याय की ओर, भ्रू-क्षेप नहीं करने थे। वे प्रेम के वशीभूत होकर कर्त्तव्य-विमुख हो रहे थे। एक-वसना कृष्णा का चीर भरी सभा में खींचा जा रहा है। घर की बधू, अन्तःपुरी की रहनेवाली, राज-कन्या, राज-पत्नी, पुत्रवती, पांडवप्रिया पाञ्चाली की लज्जा जा रही है। महाराज धृतराष्ट्र अपने पुत्र-पौत्रों के साथ बैठे हुए हैं, किन्तु हस्तक्षेप नहीं करते;

अपने पुत्रों को धिक्कार देकर निरस्त नहीं करते। यदि कौरव-राज अपने कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहते, यदि स्नेह की दुर्बलता उन्हें न दबाती, तो भारत-संग्राम—जो 'भव्य भारतवर्ष के कल्याण का कारण हुआ'—न होता। किन्तु वहाँ तो वात्सल्य प्रेम ने महाराज को धर्म से विमुक्त, कर्त्तव्य से च्युत, कर रखा था। वह प्रेम-मुग्ध हो कर कर्त्तव्य को भूल गये। परिणाम में युद्ध और 'हा ! हा ! इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया'—कलंक का टीका महाराज के ललाट पर लगा। वंश का विनाश हुआ, पुत्र-पौत्रों का नाश हुआ, कुल में कोई रोनेवाला भी न रह गया। संसर्ग दोष से हित, मित्र, कुटुम्ब, जाति, परजाति, अपने, बेगाने, सब-के-सब मारे गये। महाराज को वन में जा कर रहना पड़ा। भारत की प्राचीन सभ्यता का विनाश हुआ, धन-धान्य का नाश हुआ, स्वर्ग समान भारत मसान हो गया, और आज कहना पड़ता है कि —

‘भारत न दुर्दिन देखता, मचता महाभारत न जो।’

“केवल आर्य-भूमि भारत में ही प्रेम पर कर्त्तव्य की जय होने से प्रेम उज्ज्वलतर नहीं हुआ, बल्कि अन्य देशों के इतिहास से भी यही सिद्ध होता है। जो सत्य है वह सब देश और सब काल में सदा सत्य ही है और सत्य ही रहेगा।

‘रोम के ‘सिनेट-हाल’ में ‘सिनेटर’ बैठे हुए हैं। सभा लगी है, तर्क-वितर्क हो रहा है। रोम का प्रबल प्रताप-मार्त्ताण्ड प्रखरतर किरणों से चमक रहा है। किन्तु स्वत्व और स्वतंत्रता का आदर

करनेवाली रोमन जाति पर जूलियस सीजर का अधिकार, अदमनीय प्रभुत्व बढ़ रहा है। स्वार्थ के वशीभूत होकर सीजर अपने देश-वाशियों का तिरस्कार कर रहा है। सीजर की ब्रूटस के साथ गाढ़ी मित्रता है। किन्तु ब्रूटस देश-भक्त है। रोम की स्वतंत्रता की रक्षा करना वह अपना परम धर्म, अपना एकान्त कर्त्तव्य समझता है। सभापति के उच्च मंच पर अधिकार जमा कर सीजर बैठा हुआ है। सिनेट क्रुद्ध होकर सीजर पर शस्त्राघात करने हैं। ब्रूटस का चमचमाती हुई भुजाली सीजर के हृदय का रुधिर पीती है, मर्म-स्थान पर आघात करती है। प्रेम ने कहा—‘हाय ! क्या तुम भी ब्रूटस !’ कर्त्तव्य ने उत्तर दिया—‘पहले देश और जाति की स्वतंत्रता है, उसके पीछे स्नेह, अनुराग, प्रेम और मैत्री।’ सीजर ने विवश हो कर अपने चांगे के सिरे से अपना मुँह ढक लिया। अपने मुँह पर वस्त्र डालकर ब्रूटस भी रोने लगा। कर्त्तव्य ने प्रेम पर विजय पाई। ब्रूटस की कीर्त्ति-चन्द्रिका परम उज्ज्वल हुई।

“अस्तु। उदाहरणों को कहाँ तक बढ़ावें। इतिहास के देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रेम कर्त्तव्य का शत्रु नहीं, बल्कि उसका सहायक मात्र है। अर्थात् कर्त्तव्य ही हमलोगों का आराध्य देव है, और अनुराग, प्रेम, स्नेह, ममता (उसकी पूजा के लिये) फल-दल-जल-कुसुम-तुल्य हैं। कर्त्तव्य साधना है, और प्रेम सिद्धि प्राप्त करने के लिये केवल मंत्र-मात्र है। किन्तु इस प्रेम का अर्थ किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति अनुराग नहीं है। यदि प्रेम दिगन्त-

व्यापी नहीं हुआ तो उस मंकीर्ण प्रेम को, अकुंठित चित्त से, कर्त्तव्य के पाद-पद्म पर विसर्जन करना उचित है। किन्तु उससे उच्च विश्वव्यापी प्रेम सर्वदा कर्त्तव्य का प्राण-सा है। अतएव इसका आदर करना सब प्रकार से वाञ्छनीय है। उच्चतम प्रेम कदापि कर्त्तव्य का अवरोध नहीं हो सकता। अतएव कहना पड़ता है कि प्रेम पाप नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, दुर्बलता नहीं है। कारण, वह एक महती स्वर्गीय शक्ति होने के कारण, सदा मनुष्य को कर्त्तव्य-पालन में सहायता करता है। जो अनुरागी नहीं है, वह स्वार्थ-त्यागी नहीं हो सकता, और स्वार्थ-त्याग के बिना कर्त्तव्य-पालन असम्भव है। इसीसे कहा जाता है कि अवलम्ब प्रेम के बिना उच्च कर्त्तव्य का साधक हो ही नहीं सकता।

“जब मनुष्य के जीवन में अनुराग तथा कर्त्तव्य का ऐक्य हो जाता है, जब कर्त्तव्य के संग अनुराग हो जाता है, तभी वह सफल-मनोरथ होता है। जो परिणाम की ओर ध्यान देकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहता है, उसे सफलता कदापि नहीं प्राप्त होती। संसार में जितने कर्त्तव्य-परायण आदर्श-पुरुष हो गये हैं, वे प्रेम से उत्तेजित होकर कर्म-क्षेत्र में उतरे हैं। उन्हें यदि अपार प्रणय के कारण उन्माद-ग्रस्त भी कहा जाय, तो असंगत नहीं; क्योंकि प्रेमी का उन्माद अपार्थिव, पवित्र, आदरणीय, स्वर्गीय है। जिसमें प्रेम नहीं, प्रवृत्त प्रणय नहीं, वह संसार में कोई उच्च कार्य नहीं कर सकता। जो विवेचना से काम लेता है, उसके किये कुछ हो ही नहीं सकता। जिन लोगों का नाम

इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है, वे सब-के-सब केवल प्रेमी थे। उन लोगों के हृदय में अनुराग का अचल राज्य था। उन लोगों के मन में प्रेम था—मनुष्य का, अपनी जाति का, अपने देश का, अपने सिद्धान्त का, अपने धर्म का, अपने लक्ष्य का। उनकी रक्षा करना, उनके लिये अपने को मिटा देना, उनके लिये आत्मोत्सर्ग करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। यदि ऐसा न होता, तो उनकी महासाधना सिद्ध न होती, यज्ञ पूर्ण न होता, व्रत पूरा न होता—उनकी वासना अवृत्त रह जाती। उसके उदाहरण बुद्ध-देव, ईसा, चैतन्य-देव, गुरु गोविन्द सिंह, गेलीलियो, लियोनिडस और महाराणा प्रतापसिंह आदि हैं।

“इच्छा करने से इन लोगों को धन, मान, प्रतिष्ठा, उच्च पद, सुख, आनन्द आदि सब कुछ प्राप्त हो सकता था—और कितनों ही को प्राप्त भी था—किन्तु अपने लक्ष्य के प्रेमी, अपने उद्देश्य के अनुरागी होने के कारण इन लोगों ने सब कुछ त्याग कर वन-वन, नगर-नगर, देश-देश, पर्वत, कानन, मरुभूमि में भ्रमण किया, हँसते-हँसते कठोर यन्त्रणा, भूख-प्यास, अन्धकार-पूर्ण कारागार और निष्ठुर मृत्यु को परास्त किया, और अपने कर्त्तव्य से—जिसके ऊपर उनका पूरा अनुराग था—विचलित नहीं हुए। इन महानुभावों ने सहज ही प्राण-त्याग किया। सच तो यह है कि प्राण-त्याग करने के लिये हृदय में प्रदीप्त, स्थिर, अचल, अवलन्त प्रणय का होना अत्यन्त आवश्यक है।

‘ भविष्य की ओर ध्यान रख कर कार्य करने पर कोई अपने

सुख, स्वच्छन्दता, धन-जन तथा प्राणों को सहज में अर्पण नहीं कर सकता। अतएव यदि अपनी कीर्ति को संसार में अचल छोड़ना चाहते हो, अपने उद्देश्य को पूर्ण करना चाहते हो, साधना को सिद्ध करना चाहते हो, तो प्रेमी बनो। डरो मत, प्रेम—सच्चा प्रेम—तुमको कदापि कर्त्ताव्य से भ्रष्ट नहीं करेगा, क्योंकि यह कदापि कर्त्ताव्य का अवरोध नहीं है। अस्तु, प्रेम के पवित्र राज्य में निवास कर अपने को अमर बनाने की चेष्टा करो। इस राज्य में डेरा डालने से तुम्हारी मलिनता, संकीर्णता, नीचता और लुब्धता जाती रहेगी।

“अनेक बार युगान्तर हुए। युग-पर-युग बीत गये। राजा रंक हुए। जंगली जातियाँ सभ्य हुई। प्राचीन सभ्यता, कला और विद्या गई; नवीन आचार-विचार का प्रादुर्भाव हुआ। स्थल जल हुआ, और जल स्थल। किन्तु प्रेम हर काल में, हर युग में, हर अवस्था में अदमनीय तेज से प्रज्ज्वलित ही रहा। उसकी अखंड ज्योति जगमगाती ही रही। इसी प्रेम को परमेश्वर कहते हैं। प्रेम धन्य है ! प्रेमी धन्य हैं !”

जहाँ चाह वहीं राह

[श्रीरामलोचनशरण]

मैं जब किसी वस्तु पर दृष्टिपात करता हूँ तब मन में तत्क्षण दो बातें उत्पन्न हो जाती हैं—इस वस्तु की मुझे आवश्यकता है, इस वस्तु की मुझे आवश्यकता नहीं। फिर तो यही पाया है कि जब आवश्यकता होती है तब चाह की उत्पत्ति होती है और जब चाह होती है तब उद्देश्य की सिद्धि के लिये राह भी निकल आती है।

यदि चाह न होती तो ये बड़े-बड़े भवन, हरे-भरे उद्यान, कल-कारखाने, रेलगाड़ी, हवाई जहाज, तार, बेतार का तार इत्यादि से क्या हमलोग वंचित ही न रह जाने !

मुझमें किसी बात की चाह अवश्य है, जिसने मुझे पढ़ने के लिये बाधित किया है। तपस्वियों का तप करना, व्यापारियों का अथाह और भयंकर समुद्रों में अपनी जान हथेली 'पर रखकर जहाज चलाना ; वीरों का समरभूमि में मौत से खेलना सभी कार्य तो चाह से भरे हैं ! जगत् में जो नूतन आविष्कार और निर्माण हो रहे हैं और जो प्रगति प्रत्येक क्षेत्र में हो रही है, वे कुछ भी न हों यदि उन बातों की चाह न हो। यदि मुझमें चाह की कमी हो जाय तो उत्साह, उद्यम और अध्यवसाय सभी मुझसे विदा हो जायँ और मेरी उन्नति रुक जाय—यहाँ तक कि पुरुषार्थ भी मुझसे ३ और ६ का नाता जोड़ ले।

जो संसार को असार मान लेगा वह संसार में क्या उन्नति कर सकेगा ? जो अपने को ब्रह्म समझ लेगा उसे फिर किस उन्नति की आवश्यकता रहेगी ? जिन्होंने यह समझ लिया कि जिस परमेश्वर ने गर्भ में भरण-पोषण किया वह, हम हाथ-पैर न भी हिलायें तो भी, हमें अहार देगा—जो जल में, थल में, आकाश में सब प्राणियों को आहार पहुँचाता है वह अवश्य हमारी सुधि लेगा—वे क्या पुरुषार्थ करेंगे !

“चाह घटी चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह ।
जाहि कलू ना चाहिये, सो साहनपति साह ॥
अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम ।
दास मलूका यों कहे, सबके दाता राम ॥

यह धारणा जबसे हमारे देश में व्यापक बनी, तभी से चाह की भरपूर कमी हो गई । इसलिये भारतवासियों ने कुछ भी उद्यम न कर, अपने खान-पान और जीवन-निर्वाह का भार दूसरों पर डालकर, विभवशाली आर्यावर्त्त को दरिद्र हिन्दुस्तान बना दिया ! जिस आर्यावर्त्त के लिये संसार कहता था कि यहाँ दूध घी की नदियाँ बहती हैं, अब वहीं के वासियों की उदरपूर्ति विदेशियों की खैरात पर होती है ! भला बताइये तो क्या कारण है कि हिन्दुस्तान के एक चौथाई मनुष्य दोनों काल भोजन करना जानते ही नहीं । ऐसे करोड़ों स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाएँ हैं, जिन्हें साल भर एक समय भी भरपेट अन्न नहीं मिलता ।

ऊपर लिखित दूसरे दोहे का भाव आधुनिक भारतवर्ष के लिये बहुत ही हानिकारक है। हाँ, इसका किंचित् अंशमात्र उन लोगों को लाभदायी हो सकता है जो तृष्णासागर में आठों पहर निमग्न रहकर तरह-तरह के दुःख उठाते हैं, परन्तु ऐसे सिद्धान्त पुरुषार्थहीन और आलसी मनुष्यों के लिये घातक हैं। यहाँ पर ऐसे ही सिद्धान्तों के कारण पिछले तीन-चार सौ वर्षों में उत्साह, उद्यम और अध्यवसाय की बड़ी कमी हो गई और हम लोग अवनति के मुख में पहुँच रहे।

मैं तो मानता हूँ, मुझे अच्छी-अच्छी बातों की चाह होनी चाहिये। मुझे अपनी चाह को उचित और उदार बनाना चाहिये। जिन कार्यों से देश की भलाई, जाति की उन्नति और मनुष्य जन्म का कर्त्तव्य पूर्ण हो, उन्हीं की चाह सत्य और उदार है। जिस कार्य की चाह से देशवासी आपस में एक-दूसरे को प्रेम से चाहें और मिलें, वही कार्य सच्चा और उन्नति के मार्ग पर ले जानेवाला है और ऐसी ही कार्यों की चाह से मनुष्य बड़ा भी होता है।

अनुचित कार्यों की चाह सर्वथा बुरी है। जितने बुरे कार्य हैं उनसे सदा अलग रहना चाहिये। विषयभोग की चाह सदा दुःख देनेवाली है, इससे शान्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार आग में घी देने से वह अधिक प्रज्वलित होती है, उन्ही प्रकार विषय तृष्णा भी भोग-विलास से बढ़ती है। विषयी जन जिसको तृप्ति मानते हैं, वह क्षणिक है। अल्पकाल में ही उसकी चाह दूनी

हो जाती है, परन्तु उससे सच्चा अखंड सुख कभी नहीं मिलता ।

“मोह सकल व्याधिन कर मूला”

मोह ही दुःख का कारण है । यह मनुष्य को नाना प्रकार की आपत्तियों में फँसा डालता है, परन्तु मन को वश में रखने में इन्द्रियों पर प्रभुत्व बना रहता है और मनुष्य अनुचित विषय-विलास से बच सकता है ।

मैं अमम्भव बातों की चाह को भी नितान्त अनुचित मानता हूँ । भला, जो कार्य अपनी योग्यता से बाहर है, वह कैसे सम्पादित होगा ? क्या हमलोग समुद्र को तैरकर पार कर सकते हैं ? अतएव ऐसे कार्यों के लिये भी व्यर्थ कष्ट नहीं उठाना चाहिये ।

हमलोगों को उचित है कि अपनी योग्यता का विचार कर किसी वस्तु की चाहना करें । कहीं ऐसा न हो कि मृगतृष्णा में पड़कर अपने को नष्ट-भ्रष्ट कर डालें, क्योंकि जो इस भँवरजाल में पड़ता है वह विचाशून्य हो जाता है । उसे यह नहीं सूझता कि वह जिस वस्तु पर मोहित है वह उसे प्राप्त होगी या नहीं, वह उसकी योग्यता के अनुरूप है या नहीं ।

मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ । मैं विषयों में लिप्त होना बुरा मानता हूँ । किन्तु मैं यह भी मानता हूँ कि चाह से ही राह बनती है, कामना से ही कर्म होता है । जहाँ चाह वहाँ राह, इतना ही नहीं मेरा तो विश्वास है—जहाँ चाह वहीं राह !

मा की माया

[शिवपूजन सहाय]

महिमामयी माता ! तेरे प्रेम से पूर्ण हृदय से अमृत की जो स्वच्छ धारा बहती है उसे ही पी कर मैं पुष्ट हुआ हूँ । मेरा रोम-रोम तेरे ही प्रेम की विमल धारा से सींचा गया है । तूने मेरा लालन-पालन, लाड़-प्यार, भली-भाँति किया है । मैं तेरा बदला किसी जन्म में नहीं चुका सकता । तेरे रोम-रोम में प्रेम की लहरी लहरा रही है । आज मेरे प्राणों को तूने अमृत के घूँट पिला दिये हैं । अहा ! आज मेरे और तेरे प्रेम में होड़ सी मची हुई है । तेरा प्रेम कहाँ बलवान् तथा पवित्र और मेरा कहाँ एकदम मुलायम और सुकुमार । तेरा प्रेम सहज स्वाभाविक और मेरा बनावटी और दिखलोआ । आस्मान-जमीन का बीच !

देवि ! तूने अपने प्रेम का समूचा भंडार मेरे हाथों लुटा दिया । तेरे प्रेम के अमृत से भरे हुए खजाने को मैंने खाली कर छोड़ा है । प्रेम-पीयूष से छलछलाते हुए कटोरे को मैं बिल्कुल सोख गया । हाय । अब तू ठगी गई ! तुझमें अब रत्ती भर भी प्रेम मैंने नहीं छोड़ा । तूने मेरे साथ प्रेम भरी दया दिखलाई और मैंने तेरा सबस हरण कर लिया । तेरी प्रेम भरी कृपा से मैं प्रेम का पवित्र पुतला बन गया । तेरी गोदी का तो मैं गहना हूँ, मगर अपनी बुद्धि के सहारे मैं अपने आप को बड़ा भारी कृतघ्न

समझता हूँ। तूने जो उपकार मेरे साथ किया, उसे याद तक नहीं रखता हूँ तो तेरी पूजा कब बन आयेगी ?

हे माता ! तूने जो प्रेम की सुन्दर लता अपने हृदय के उद्यान से उखाड़ कर मेरे दिल की शोभा बढ़ाने के लिये इसमें लगा दी है, वह दिन पर दिन हरी-भरी हो कर लहलहाती जाती है। जब वह फूलती-फलती है तब मारे सुगन्ध के मेरा मन प्रेम से मस्त हो जाता है। मैं प्रेम से पागल हो हो कर उसी में से फूल तोड़-तोड़ कर गुच्छा बनाता हूँ और तेरे चरणों में चढ़ाता हूँ। तेरे ही प्रेम की सौगात फिर तुझे ही सौंपता हूँ। तू भी जाने क्यों स्नेह-वश मेरी प्रीति-भरी भेंट मंजूर कर लेती है। तेरे शुद्ध अञ्जल में फूलों के गोल-गोल गुच्छे वैसे ही सोहते हैं जैसे प्रातः काल के समय सूरज पूरब की ओर लाल नारंगी के पके फल के समान उगे हुए होते हैं। मैं तेरे प्रेम की आरती उतारता हूँ। बार-बार जाता हूँ। बलिहारी !

मेरी मैया ! तेरे अंग-अंग में प्रेम की पवित्र बिजली भरी पड़ी है ! मैं जब तुझे देखता हूँ तब हृदय में प्रेम का समुद्र उमड़ पड़ता है। मैं तेरे दर्शन से जैसा आनन्द लूटता हूँ वह स्वर्ग में भी नहीं मिलने का। तूने अपने प्रेम की पूँजी मुझे दे डाली। मैं उस थाती को लेकर अयाची हो गया। जिदगी भर की बटोरी हुई अपनी दिली दौलत तूने खुले दिल से मुझे दे दी। उस प्रेमाभृत की एक-एक बूँद ले कर मैं तेरे सामने सुख की वर्षा खूब बरसाऊँगा। तू भी अपनी बोयी हुई बेलि को अच्छी तरह फूली-

फली देख कर फूली न समायेगी। किन्तु मुझे संकोच तो इस बात का है कि अब अगर तू प्रसन्न भी होगी तो मुझे क्या दे सकेगी ? क्योंकि मैंने तो हड़्डी-हड़्डी का प्रेम-रस चूस लिया है। तेरे मिठास भरे वचनों से फूल झरने हैं। तेरी कोमल और मीठी बोली मधु तथा मिसरी से भी स्वादिष्ट है। मैं तो उन फूलों से लड़कपन में ही दिल की चँगेली भर चुका और मिठास चख चुका। अब फिर भी रह-रह कर क्यों तुझे कष्ट देता रहूँ ? एक-आध बचे-बचाये फूलों को भी डालो पकड़ कर, झुका कर, तोड़ लेता हूँ, तो तू बस देख कर, हँस कर, रह जाती है ! तेरी दया की सीमा नहीं है ! हाय ! तेरे कण्ठ में जो अमृत का भरा-पूरा कुण्ड है, उसे मैंने, बरबस, रार मचा-मचाकर, सूखा बना ही कर छोड़ा। तेरे चरण-कमलों को चूम-चूम कर भौरे के समान सब प्रेम-रस सांख लिया। अब तेरी थैली खाखली देख कर दुःखित होता हूँ। तेरे मनोरथ सभी छूँछे पड़ते जाते हैं। तू सरासर प्रेम से शून्य ही हो गई। अब कौन मेरा दुलार करेगी ? कौन ललक-ललक कर अपनायेगी ?

मातृदेवि ! तेरी दी हुई प्रेम की बूटी पीस कर जब पीता हूँ तब प्रेम से पागल हो कर तेरा गुण गाने लगता हूँ। थिरकना देखकर तू हाथ मीज कर रह जाती है कि कौन-सा पदार्थ प्यारे बच्चे को दूँ ! यह प्रेम की सञ्जीवनी बूटी मेरे हृदय को उजियाला बनाती है। तू लज्जित मत हो। मैं तुझसे कुछ नहीं चाहता। मैं सब कुछ पा चुका। अपना तन-मन-धन मेरे लिये

स्वाहा करके तू क्यों अब मेरी चिन्ता से चूर हो रही है। सारे संसार को शीतल बना कर, समूची पृथ्वी की छाती ठंडी कर जगत के जीवों को प्रेम से सींच कर जब यह मेघ एकदम खाली हो जाता है—रुई-सी महज हलकी चीज के बराबर हो कर हवा के झोंके में इधर से उधर उड़ा फिरता है—तो क्या उसकी शोभा नहीं होती ? जरूर ही होती है। तेरी दी हुई इस प्रेम की झोली में जो जड़ी है उसने मेरे जीवन को सफल कर दिया। प्रेम का जो कुछ भी तन्त्र-मन्त्र तूने सिखलाया उससे मेरा बहुत कल्याण हुआ। सारे दुःखों की इतिश्री हो गई! अब मुझे यही वरदान दे कर निश्चित कर दे कि जन्म-जन्मान्तर तू मेरी जननी और मैं तेरा प्यारा पुत्र !

माता ! तेरे इस प्रेम के अनमोल रतन को पाने से न तो सन्तोष ही होता है और न कोई इच्छा ही उपजती ! इसके स्वाद से न जीभ अघाती ही है और न इसे छोड़ किसी दूसरी चीज की चाट में चञ्चल होती है। इसके रस से न तो जो भरता है और न अरुचि पैदा होती है। एक घूँट पीकर छक जाता हूँ, फिर दूसरा घूँट देने पर भी प्राण नामंजूर नहीं करते। तेरे रोम-रोम से प्रेम की नदियाँ बह कर मेरे हृदय में आ गिरी हैं जिससे सुख का समुद्र उमड़ आया है—अब इस प्रेम के अथाह समुद्र के तू पार नहीं जा सकती। तूने ही इसका विस्तार किया। धन्य ! मा ! आ, मेरे हृदय के अगाध प्रेम समुद्र के किनारे बैठी रह। मैं लहरों से तेरा पाँव पखाऊँगा। छोटी-छोटी लहरों

को प्रेम से तेरे आगे नचाऊँगा, फेन का साफ चन्दन चढ़ाकर तेरी पूजा करूँगा ।

माँ ! मुझे घमंड है कि मेरा-तेरा प्रेम समुद्र से भी गहरा, आकाश से भी ऊँचा, पहाड़ से भी भारी, जमीन से भी चौड़ा, सूर्य-चन्द्रमा से भी चमकीला और वसंत से भी सुन्दर है । यह प्रेम की मस्ती मैं नहीं रोक सकता हूँ, ठिठार्ई छमना, ले इसे फिर अपनी गोदी में शरण दे, जहाँ से इसकी पैदाइश है ।

ऐ मेरी पूजनीया जननी ! आ ! हम प्रेम के हिंडोले में झूला झूलते ही रह जायँ, फूलते ही रह जायँ ! मेरा तेरा अलौकिक प्रेम देख कर, बदली बरसती रह गई ! चाँदनी तरसती रह गई ! विजली तड़पती रह गई ! कोयल कुहुकती रह गई ! नदी बहती रह गई ! कली हँसती रह गई ! धरती कंपती रह गई ! आग लहराती रह गई ! मयूरी नाचती रह गई ! शारदा सोचती रह गई और लक्ष्मी संकोचती रह गई !

महत्वाकांक्षा की राख

[श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी]

(१)

क्या आपने कभी लिखा ही नहीं ?

“आलोचना के सिवा ।”

कुछ भी नहीं ? कभी भी नहीं ?

“कभी-कभी, कुछ-कुछ, बहुत दिनों पहले ।”

तब आपके लेखन की जन्म-तिथि कौन-सी है और समालोचन की कौन-सी ?

“लिखने की सुखी इच्छा को दफनाने के दिन को ही समालोचन के मंगल-प्रभात बनने का गौरव प्राप्त है ।”

तब तो लेखक के यमराज ही को समालोचन का ब्रह्मा मानना पड़ेगा !

“ना, ऐसी बात नहीं है । कुछ लोग निरा पत्थर पूजते हैं । मैं अपनी टाँकी से एक मूर्ति बनाता हूँ और फिर उसको पूजता हूँ ।”

(२)

आपने लेखन को दफनाने की आवश्यकता क्यों समझी ?

“नोरों की दुनिया में अधिक दिन रहना ठीक न समझा ।”

और यदि रहना पड़ता ?

“—तो चोर बनकर !”

क्या आप यह अपनी निश्चित राय दे रहे हैं ?

“बिजकुल निश्चित ।”

इस अनुभव की पुस्तिका के कुछ पन्ने क्या मैं पढ़ सकता हूँ ?

“क्या करोगे पढ़कर ? ‘सौदामिनी’ का लेखक बनने की मेरे मन में इच्छा जाग्रत हुई । मैंने अपने नगर का सुन्दर वर्णन लिखकर भेजा । सम्पादक उसे पचा गया । मैं समझा, शायद सम्पादकों को यह नहीं रुचता । नगर की उदासीनता छोड़कर मैंने जंगलों में कितने ही अमरुदों के तोते उड़ाये । गगन के स्वर में गिरिवरों का भैरव-गान लिखा । रमणीय झाड़ियों की कानपुर के लोकमन मुझाल की गलियों से उपमा दी । श्मशान को विश्व के विनोद और संतप्त हृदय की सेहत का साधन बताया । और, एकांत को रात्रि के सन्नाटे-सा लिखकर भेजा । पर सब जन्त ! ‘राष्ट्रीय-वीणा’ के संपादक जी ने हफ्ता पूरा होने के पहले ही मेरे लेख मेरे पास वापस भेज दिया—ज्यों का त्यों । केवल लिफाफा उनका अपना था ।”

पहली आशाएँ और साधनाएँ नहीं होती हैं । वे सम्भव-नाओं के छोरों पर नहीं बैठ पातीं । क्या यही—

—“सो बात नहीं । सम्पादक कोमल लेखकों की आशाओं और साधनाओं का शिकारी होता है । जानते हो, मेरी उस समय क्या हालत थी ?”

आपकी हालत ? पुरुषार्थ को संचितकर मातृ-भाषा और उसके द्वारा मातृ-भूमि की अधिक सेवा होने के लिए—जिस तरह वृक्ष अपनी सुगन्ध के लिए कुछ रस जमीन से और कुछ आसपास बहनेवाली हवा में से खींचता है, उसी तरह आपने कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ अध्ययन से अपने को परिष्कृत कर साहित्य सेवा करना तय किया होगा ।

“ना, यह बात नहीं । संपादकों की उदासीनता से मेरा मन साहित्य-सेवा के परम हेतु से खिंचकर कुछ समय के लिए हेतु-शून्य हो गया । उस समय परस्पर-विरोधी दिशाओं के अन्दाजे लगाकर मैं अपना नया हेतु ढूँढ़ने के लिये उद्विग्नता के सरोवर में गोते लगाने लगा ।”

यदि उस समय आपने ऊँचे लेखकों की पुरुषार्थमयी करुण जीवनियों से सहारा लिया होता और साहित्य-शिल्पियों के रूप में जिन्दा रहना तय किया होता तो—

—“तुम नहीं समझते । मेरी बेचैनी के लिए, मधुर साहित्य-सेवा का चिन्तन, कुपथ्य से भी बढ़कर कुपथ्य था । जो थोड़ी-बहुत सेवा मैंने की थी, वह मेरे लिए बोझ थी । छापे की कीलों में वह चाहे पूरी न दबी हो, मगर मेरे आसपास के मित्र उसे जानते थे । किसी लड़ने हुए के कलेजे में चुलेट लग जाने पर वेदना होती है या नहीं, मैं नहीं जानता; किन्तु जब राधामोहन पूछता था—‘तुम्हारी ‘यौवन की रानी’ नामक कहानी ‘वासन्ती’ संपादक ने स्वीकृत की या नहीं ? तब यह

सवाल मेरे हृदय के भारपार हो जाता था। जीने से उतरते हुए जमीन पर गिर पड़ना मैं बरदाश्त कर सकता था; किन्तु डाकिये का कहानी छपने की इनकारी का पत्र लाना, मानों मेरे साहित्यिक जीवन के लिए महामारी की बीमारी लेकर आना था। इसलिए पहले मैंने लेखक के नाते, नाम समेत निःशेष हो जाना, और फिर एक उससे भी श्रेष्ठ पथ में चलना तय किया।”

यानी समालोचक होना न ?

“हाँ।”

गुरुवर, मैं तुम्हारा शिष्य होकर आया हूँ। मैं भी लेखक-जीवन के कुंभीपाक में नहीं रहना चाहता। लेखक के इस जीवन से समालोचन में, हे प्रभु,

‘तमसो मा ज्योतिर्गमय।’

“अल्हड़-जीवन के क्रोध का परदा जालीदार होता है। उसमें मनोभावना छनकर आँखों पर आ जाती है। जिसका हेतु आँखों में गिरफ्तार किया जा सके, वह समालोचक के महान् सिंहासन पर आसीन होने का अधिकार नहीं। महान् अन्वकार में अनन्त योजनाओं पर निवास करनेवाले नक्षत्रों का चाहे कोई ज्योतिषी पता पा ले, किन्तु किसी देवर्षि की भी यह सामर्थ्य न होनी चाहिए कि सहस्र सहस्र सूर्य की किरणों के आस-पास खेलते हुए भी, वह हमारे हेतु को गिरफ्तार कर सके। अंक-शास्त्र चाहे गणित की गलतियों का कोई अन्दाजा बाँध

ले, किन्तु उसे यह साइस नहीं करना चाहिये कि वह हमसे बाजी ले सके। पुस्तक के पृष्ठ, पृष्ठ की पंक्तियाँ और पंक्तियों के अक्षरों से भी किसी ग्रन्थ के विषय में हमारे दिखाए हुए दोषों की तादाद अधिक हो सकनी चाहिए। हमें अपने आक्रमण के लिए लक्ष्य की प्रतीक्षा में सूरज और चाँद की तरह अमावस और पूनो की बाट नहीं देखनी चाहिए। हमारा तो किसी भी ग्रन्थ पर उसी समय खयास-ग्रहण, जिस दिन हम चाहें !”

राहु तो पूर्णचन्द्र पर ही आक्रमण करता है, बालचन्द्र पर नहीं।

“किन्तु, समालोचना के जगत् में इस बात का खयाल नहीं रखना पड़ता ; यहाँ तो अनेक बाल-लेखकों का संहार कर समालोचन की छाप जमानी होती है।”

छोटे, नन्हें बच्चों की चलना सिखाने के लिए मातायें भी तो बच्चों के साथ उनकी उँगली पकड़कर चलती हैं। वे उन्हें गिरने नहीं देतीं। क्या समालोचक के लिए यही करणीय नहीं है ?

“ना, हमारे प्रभाव का तूफान जिन्दा रखने के लिए, और हमारे अस्तित्व के ‘बैरागी’ जीवन पर भस्म लपेटने के लिए तरुण और नवागत लेखकों की महत्त्वाकांक्षा की राख जरूरी है।”

तब तो साहित्य से कितनों ही को बाल-हत्या हो जावेगी ?

“हर्ज नहीं, अशोभ्य नष्ट हो जावेंगे, योग्य जिन्दा रहेंगे।”

तब आप 'कादम्बिनी'-संपादक से रुठे हुए हैं किस कारण से ?

“मेरे प्रभाव को मस्तक न झुकानेवाली दुनिया की अकड़ को चुनौती मानना मेरा धर्म है।”

और अमर उपन्यासकार मधुरेशजी पर चढ़ाई क्यों कर रखी है।

“आदमी सदा ही वीर रस में नहीं रह सकता। उसे हास्य भी चाहिए। समालोचक का हास्य वह छेड़-छाड़ है जिसे वह बिना आवश्यकता के भी उत्पन्न किया करता है। उसकी शक्ति ‘कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः’ होती है।”

किन्तु आप केवल समालोचक ही तो नहीं हैं; संपादक भी हैं। क्या ‘विषदन्त’ के संपादक होने के नाते आप पर कोई जिम्मेदारी नहीं है ?

“पागल हो ! अरे समालोचन और आक्रमण की साध पूरी करने के लिए तथा अपने पर अवलंबितों को लेखन और काव्य में ‘महापात्र’ साबित करने के लिए संपादन एक आवश्यक रोजगार है।”

आखिर जो काम नम्र संकेतों से हो सकता है, वह कठोर चढ़ाई से क्यों किया जाता है ?

“इसलिए कि जिस ‘नन्दन’ पर भी हमारे तीर पहुँच जायँ, उसे साहित्य की दुनिया में श्मशान हो जाना चाहिए।”

आखिर, समालोचना की आदर्श दिशा चुनने के महाग्रन्थ की भूमिका में क्या कहा जावेगा ?

“यही कि प्रत्येक लेखक और कवि चोर है। कोई विचार चुराता है, कोई भाषा और कोई रचना। यह नहीं होना चाहिए। लेखक या कवि का मौलिक होना जरूरी है।”

क्या बिना चोरी के विचार, भाषा और रचना की स्वल्प समता भी संभव नहीं ?

“परन्तु, लेखक या कवि के पास क्या प्रमाण है कि उसने चोरी नहीं की ?”

क्या इसका अर्थ यह है कि लेखक या कवि होना प्रकृतिसिद्ध चोर होना है ?

“तो फिर क्या इसका अर्थ यह है कि कहीं से विचार, कहीं से भाषा, कहीं से शैली और कहीं से रचना हड़पकर मजे में लेख बना लिया जाय ?”

आपकी दृष्टि में कोई लेखक भला आदमी हैं ?

“हमने सब ग्रन्थों की परीक्षा नहीं की, किन्तु परीक्षा से जाना है कि अधिक तादाद चोरों की है।”

किसी ग्रन्थ या लेखक की चोरी पकड़ने में आपको कितना समय लगता है ?

“अधिक से अधिक छै सप्ताह।”

सो कैसे ?

अंग्रेजी या बंगला के तद्-तद् विषयों के ग्रंथ

देखना जहाँ हमने शुरू किया कि चोरियाँ एक के बाद दूसरी हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं।”

चाहे उन लेखकों ने आपके पढ़े हुए उन ग्रंथों को देखा भी न हो ?

“बिना देखे वाक्य या भाषा या मजमून या शैलियाँ कैसे मिल सकती हैं ?”

मैं इस प्रश्न को जरा दूसरी तरह से समझने का यत्न करूँ । भगवन् ! आपने कभी ऐतिहासिक पुस्तकों को पढ़ा है ?

“जरूर ।”

और वैज्ञानिक पुस्तकों को ?

“हाँ”

राजनीति, अर्थशास्त्र आदि के ग्रन्थ भी आपने पढ़े ही होंगे ?

“हाँ पढ़ लेता हूँ ।”

फिर उन ग्रन्थों में, कौन-सी बातें दूसरे ग्रंथों के आधार पर नहीं लिखी जाती ? इन विषयों के लेखकों का अपना ‘शुद्ध मौलिक’ क्या होता है, आपने कभी गहराई से सोचा है ?

“मैंने प्रायः ऐसे ग्रन्थों की समालोचना नहीं की । यदि करता तो इनमें भी बहुत कुछ ढूँढ़ा जा सकता था । साथ ही, यदि उक्त विषयों में मौलिकता नहीं है, तो क्या साहित्य के लेखकों में भी नहीं होना चाहिए ?”

खता माफ हो सरकार, मैंने यह नहीं कहा कि उनमें कुछ मौलिक नहीं होता । मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि जब केवल कुछ

विचार जरा-सी शैली और तनिक भाषा मिल जाने पर कहानी, कविता, उपन्यास आदि के लेखकों को सूँघ-सूँघकर चोर साबित किया जा सकता है, तो आपकी अदालत में दूसरे लेखकों के सारे विषयों को निकालनेवाले कुछ विषयों के लेखक डाकू क्यों नहीं करार दिये जाने चाहिए ? यदि वे डाकू नहीं, तो उन्हीं की तरह निर्दोष बनने के लिए क्या आप साहित्य के लेखकों को दूसरे ग्रन्थकारों के समान इजाजत देंगे ? इन विषयों का भी अपना मौलिक कुछ होता है । परन्तु प्रभु, मुझ मन्दबुद्धि को आप समझावें तो, वह कौन-सा ?

“किन्तु ऐसे विषय ही थोड़े होते हैं ।”

ना भगवन् ! ज्योतिष में मौलिक क्या होगा ? व्याकरण में मौलिक नियम कौन-से हैं ? और भूगोल की मौलिक दुनिया कहाँ बसाई जायेगी ? क्या यह सत्य नहीं है कि मौलिकता के रक्त-कर की माँग पर अपना सम्पूर्ण रक्त चढ़ा चुकने के बाद भी केवल बेचारे साहित्य-शिल्पी ही दीवालखोरे करार किये जाते हैं ! यों तो व्यास, वाल्मीकि और कालिदास तथा तुलसीदास भी इस भगवान् की तरह व्याप्त चोरी से नहीं बच सकने । इसके सिवा इतिहास, विज्ञान, ज्योतिष, तर्क और अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की आलोचना का बोझ गरीब हिंदी संसार कैसे संभाले ? इन विषयों के ग्रंथों की आलोचना वाक्य, शैली और भाषा की चोरी ढूँढ़ कर नहीं की जा सकती—यहाँ हडसन, वेनिटी फेयर और आँख की किरकिरी की माला फेरने से जब काम चलता

हो ! यहाँ तो विज्ञान, इतिहास और ज्योतिष भादि विषय प्रकाण्ड विद्वत्ता और प्रगाढ़ अध्ययन चाहते हैं। वह 'राष्ट्र-भाषा' में कहाँ संभव ?

“तो क्या, साहित्यिकों को चोरी करने का लाइसेन्स दे दिया जाय ?”

ना, भगवन् ! साहित्य-शरीर के जिन्दा रहने के लिए, बाहर की वस्तु, चाहे वे अन्न-जल ही क्यों न हो, हरगिज न जाने दीजिए। मौलिक शरीर की बाढ़ के लिए बाहर के अन्न-जल की जरूरत ? परन्तु, कलियुग आ गया है !

“पानो ?”

रेलें, जहाज और हवाई जहाज विश्व भर का ज्ञान लेकर हमारे दरवाजे उँड़ेलते हैं। हमारे लेखकों का यह काम है कि विश्व के समस्त ज्ञान के कागजों को गरम पानी के चूल्हे में जला दिया करें; किन्तु वे उसे पढ़ते हैं। पढ़कर विश्व के चिन्तकों की तरह चिंतन करते हैं और उस चिंतन को लिखते हैं। भला यह चोरी क्यों नहीं कही जायगी ? परन्तु—

“तब आप साहित्य में मौलिकता नाम की कोई वस्तु ही नहीं मानते ?”

मानता क्यों नहीं हूँ ? मैं तो मानता ही हूँ कि कविता, कहानी और उपन्यास के लेखक ने माँ के पेट से जन्म तो लिया ही होगा। माँ ने शब्द सिखाये होंगे; पिता ने वाक्य बनाना। शाला के पाठक ने 'भाषा' बनाई होगी ! विद्वानों ने अपने

विचारों और शैलियों से संस्कार किया होगा। और इसी बीच ग्रंथों ने आकर विद्वानों का स्थान ले लिया होगा। तब फिर इतनों की चोरी करने वाला साहित्यिक, चोर क्यों न होगा? इसलिए मौलिकता का अस्तित्व मान भी लूँ तो अपनी मन्द-बुद्धि के कारण यह मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर मौलिकता है कौन वस्तु और वह बेचारे साहित्यिकों ही की सादे-सादी क्यों बनी रहती है ?

“इस बात का पता उस दिन लगेगा, जब तुम अपना मुँह किसी दिन मासिक ‘त्रिपदन्त’ की संख्याओं को उठाकर देखोगे, जिनमें मैं अपना ईमान व्यक्त किया करता हूँ।”

आपके ईमान की जय हो, भगवान् !

मुसाफिर की एक झाँकी

[राजा राधिकारमण सिंह]

टन् टन् टनन् घंटी बजी। आकाश-पाताल को कँपाती हुई गाड़ी आ पहुँची। हम सब वेटिंग रूम से बाहर निकल पड़े। बड़ी जबरदस्त भीड़ थी, बदन झिलता था, कंधे टकराते थे। सामने ही एक कमरे के चारों ओर लोग पिले पड़ते थे और 'महात्मा की जय' की आवाज से वह विराट् स्टेशन कांप रहा था। सुना कि महात्माजी अपने कमरे से उतर कर इसी जन-प्रवाह में खड़े हैं और कुछ लोगों से बातें कर रहे हैं। मैंने कहा कि बिना देखे अब टलता नहीं। आँखों ने जी-तोड़ कोशिश की, आखिर उस भयंकर भीड़ को चीर कर पहुँच ही गई, एक बार सर से पैर तक हेर कर विनम्र खड़ी हो गई। एक शान्त, सौम्य सनेज मूर्ति थी। होठों के प्रान्त पर विवेक की एक सूक्ष्म रेखा थी। आँखों में एक अपरूप ज्योति थी। मालूम होता था कि कोई उदार निर्भीक आत्मा उन झरोखों से झाँक रही हो। सर पर वही गाढ़े की टोपी और शरीर पर हाथों का चुना चपकन। मैं कह नहीं सकता, मैंने कुछ देखा नहीं, पर न जाने कौन भीतर से उछल कर उनकी पदांगुलि पर जा पड़ा। मेरे शरीर का एक-

एक जरा उनके चरणों पर लुट गया। सचमुच भारत की अन्तरात्मा आज इसी कलेवर में दिव्य मूर्ति हो कर खड़ी है। मालूम नहीं, किस अज्ञात महत्व से हृदय उमड़ आता था। लोगों ने ठीक कहा है कि महात्मा की दृष्टि में एक अजीब जादू है, नहीं तो इतना जल्द मेरा अन्तर उनकी वश्यता क्यों स्वीकार कर लेता ? मैं आँखों में प्राण भर कर एकटक देखता रहा। हठात् एक जोरदार धक्का आया और मैं दूर फेंका गया।

क्या देखता हूँ—एक भद्र महिला एक सेकेंड क्लास-कम्पार्टमेंट से उतरी आ रही है। गन्दुमी रंग, गालों पर पाउडर के चकते, ढाँके की कासनी साड़ी, उसी मेल का जैकेट, नाक पर सोने का चश्मा, गरदन में एक पतली हलकी लड़ी, दाहिनी कलाई पर एक छोटी-सी घड़ी, पैरों में मचमच् करता हुआ जूता, ये सब कुछ मिल कर एक काबिलेदीद सीनरी थी—एक अजीब दिलचस्प समा था। और आपके पीछे दोनों हाथों में दो बेग लिये हमारे पंडित किशोरीलालजी कुछ शान, कुछ लिहाज के साथ सर झुकाये जा रहे हैं। तब तक गाड़ीवान ने बाअदब सलाम कर चिल्लाते हुए कहा—“मेम साहब ! गाड़ी हाजिर है।” “चलो आती हूँ।” मैंने समझा कि फैशन की अधिष्ठात्री सामयिक शिक्षा की प्रतिमूर्ति आप ही हैं।

उसी वक्त एक बच्चे के सिसक-सिसक कर रोने की आवाज कानों में पड़ी। मैंने बाईं ओर मुड़कर देखा कि एक प्रकांड पालकी है। उस पर जरदोजी का परदा है। अगल-बगल दो-चार

आदमी भी साथ चल रहे हैं। भीड़ इतनी थी, धक्का इस कदर था, कि पालकी कहारों के कंधे पर तिलमिला रही थी। अगर थामनेवाले न रहते, तो कभी ही गिरकर चकनाचूर हो जाती। पालकी समीप आ गई। मैंने साफ-साफ सुना—एक घबराये हुए बच्चे की सिसकियाँ थीं, उसे चुप कराने की थपकियाँ थीं और उसी ध्वनि में सुर मिलाती दो-चार मुखरा चूड़ियाँ भी थीं। जनाना गाड़ी में तिल धरने की जगह नहीं थी। दरवाजे पर हुज्जत शुरू हुई। दर्शकों की भी कुतूहली दृष्टि इस तमाशे पर जा पड़ी। जब तक बगल के रिफ्रेशमेंट रूम से कोट, पैट, हैट डाटे हुए एक काले साहब निकल आये। आपने आते ही शोरगुल मचाया—“नामाकूल ! तुम खड़े हो ? जल्दी परदा करो, सवारी चढ़ा लो। इन लड़कों को जनाना गाड़ी से दूर करो।” मैंने सोचा कि विधि का विधान भी खूब है। आप नये फैशन का आगार और वीबी इस पालकी पर सवार ! भीतर से एक बुढ़ी तमक कर बोली—“क्यों साहब ! अगर परदे का इतना लिहाज है, तो आप दूसरी गाड़ी रिजर्व करा लेते।” मगर यहाँ सुनता कौन है ? पालकी रखी गई। नौकरों ने परदा ताना और भीतर से आप झम्झम् करती निकलीं। परदे का वितान कुछ काफी नहीं था। बच्चे का छटपटाना और कपड़ों का सँभालना दोनों काम कुछ ऐसे बेमौके आ पड़े कि आखिर देखनेवालों ने एक झलक देख ही ली। मैंने समझा खूब हुआ—परदे की अच्छी बेपर्दगी हुई।

मैं अभी इसी खयाल में था कि अचानक बँड बाजा कानों पर बहरा उठा। मैंने आगे बढ़कर देखा कि दो-चार जवान बँड बजा रहे हैं और एक फर्स्ट क्लास कम्पार्टमेंट से जरी की पोशाक पहने, सर पर सरपेच बाँधे, हाथों में कङ्कण और आँखों में काजल दिये एक नौशा साहब उतरे आ रहे हैं। उमर आपकी लगभग साठ के होगी ! आँखों के नीचे एक विराट् वङ्किम रेखा थी। गालों का समतल भाव लुब्ध हो चला था। मूँछों पर खिजाब ज़रूर था, पर न जाने क्यों, सर के वालों पर रंग जम न सका था; काली घटा के भीतर से कहीं-कहीं चाँदनी की माया साफ नज़र आती थी। वर के मुख पर एक मायावी प्रफुल्लता थी ! एक-एक चेष्टा पर जवानों के 'पहलाम' की घोषणा थी। विवाह की शाम को ऐसी निस्पन्द, निरानन्द दृष्टि मैंने आज तक नहीं देखी। चेहरे पर, शरीर पर, यौवन की उमङ्ग लाने की कोशिशें ज़रूर थीं, पर व्यर्थ थीं; चोरी साफ नज़र आ जाती थी। लाल जामा कहाँ तक सँभाल सकता ? कानों का बाला कहाँ तक यौवन की छटा लाता ? बँड बाजा कहाँ तक जोश उभाड़ता ? जब भीतर की मदद नहीं, तब बाहर की कलई कहाँ तक रंग लाती ? मैं इस तमाशे को देखकर हैरत में था। एक नौकर प्रकांड मौर लिये गाड़ी से उतरा। साथ-ही-साथ दो भजनियाँ भी छम्-छम् करती ऐंठती-इठलाती निकल पड़ीं। मैंने कहा, सामान सब दुरुस्त है। लोगों से सुना कि हमारे दूल्हा साहब की शादी मेरे ही मुहल्ले में श्याम बाबू की लड़की

से आज ही की रात होगी। सर पर बिजली टूट पड़ी। गरीब की लड़की पर यह अत्याचार ! हाय ! कहाँ वह भोली सुकुमारी बची और कहाँ यह खूसट, खब्बीस, खुराट ! उधर कहाँ नव-यौवन की उज्ज्वल विभा—नव-स्नेह की सलज्ज आकांक्षा और इधर यौवनान्त की टिमटिमाती शिखा—क्लान्त इन्द्रियों की प्राणान्त चेष्टा ! सब कुछ मिट चला, पर अभी हिंस नहीं मिटी—हसरत नहीं गई। मुमकिन है—इस डोले पर के हीरे-मोतियों को लेकर तुम दुनिया की दृष्टि में अपने गाल पर की सूखी झुर्रियों पर परदा डाल दो, मँड़वे के भीतर जवाहरात की ज्योति से सास की आँखों में चकाचौंध कर दो, हाथी-घोड़े, गाजे-वाजे की शान से वृद्ध समुद्र के दिल को इस नये सम्बन्ध के रुतवे से भर दो; पर जिसका सर्वस्व लेने आये हो, उसके जीवन की शून्यता को तुम क्या देकर भरोगे ? हीरे के कङ्कन से हाथों की शून्यता भरती है—मन की नहीं। यौवन का अभाव कभी कुन्दन की आव से नहीं मिटता, मोती की दीप्ति से कभी दिल की कली नहीं खिलती। भगवान् ! यह कैसी विडम्बना है ? क्या माजरा है ? सर पर मृत्यु मँडरा रही है और तब भी सर से सेहरे का शौक नहीं उतरा !

यही सांचता हुआ मैं और आगे बढ़ा। हठात् किसी के फूट-फूट कर रोने की आवाज ने कानों से उतर कर कलेजे को चीर डाला। मैं जल्दी-जल्दी आगे बढ़ा। सामने ही दूसरे दर्जे का एक रिजर्व डब्बा था। उसी के दरवाजे के पास हमारे

शहर के नाजिर बाबू सर पटकते, छाती पीटते, चिल्ला-चिल्ला कर रो रहे थे। मैंने जाते ही पूछा, “क्यों नाजिर बाबू ! बात क्या है ?”

“भाई, मैं लुट गया ! मेरा भरा घर उजड़ गया ! मेरी बोझी हुई नाव अचानक डूब गई !”

सुना कि ‘आपके लड़के रेवतीरमण परसों ही गौना करने ससुराल गये थे। रुखसती कराकर चलते वक्त हैजा हुआ, पर आप रुके नहीं। रिजर्व डब्बे से चल दिये। थोड़ी देर बाद रोग भयंकर हो उठा और एक घंटे के अन्दर ही—रास्ते ही में—आपकी मृत्यु हो गई। दो-चार आदमियों ने टाँग-टूँग कर किसी हालत से लाश को बाहर निकाला। हाय ! कमर में अभी तक पीली धोती है। कानों में अभी तक झूलता मोती है। अभागिन वधू भी साथ-ही-साथ उतरी। वह रोई नहीं—तड़पी नहीं, केवल चक्कर खाकर पति की मृत देह पर धड़ाम से गिर पड़ी। सर से घूँघट सरक पड़ा। अभी किशोरी थी—सुन्दरी थी। साजसज्जा अभी ज्यों-की-त्यों थी। लाल रेशमी साड़ी अभी खुली नहीं थी। सीमन्त की रेखा अभी धुली नहीं थी। स्नेहमयी जननी ने जब रोते-रोते इसे मंगल-वेश में पालकी पर चढ़ा कर बिदा किया था, उस वक्त वह भोरी क्या जानती थी कि आज प्राणों की डली को इस जीवन से, संसार से, सोहाग से बिदा कर रही हैं ? मेरी मानस-दृष्टि पर एक और मातृ-मूर्ति भी आकर खड़ी हो गई। हमारे नाजिर बाबू की स्त्री बेटे और वधू को वरण करने के लिये

सगुन की थाली हाथों में लेकर दरवाजे पर खड़ी राह जोहती होंगी। मुहल्ले भर की सुहागिन स्त्रियाँ बेचारी बहू के लज्जारूण वदनमंडल की शत-शत कल्पनाएँ करती आपस में ठठोलियाँ-किलोलियाँ करती होंगी। भरे भाई, इस अभागिनी को वहाँ तक मत ले जाओ। मुर्दे को काँटों में मत घसीटो। अगर ले ही जाना है तो सीधे श्मशान को ले जाओ। वही इसका कोहबर होगा, वहीं यौवन का प्रथम प्रणय-चुम्बन मृत्यु की श्याम-सुन्दर सेज पर बैठकर होगा। कलेजा जल ही चुका है, कामना उसी के साथ सती हो चुकी, फिर यह शरीर रहकर क्या होगा ? इसे भी जला कर खाक कर दो। फिर लौट कर घर में, परिवार में, संसार में, सबमें आग लगा दो ! यह रहने की जगह नहीं। शायद ऐसे ही किसी मर्म-स्पर्शी दृश्य को देखकर बुद्धदेव ने इस मरुमय जगत् पर लात मारी होगी।

गाड़ी चल पड़ी। हजारों रंग-विरंग की शक्यों को लेकर एक-एक डब्बा मेरे दृष्टि-पथ से साफ निकल गया। पर मैंने देखा कुछ भी नहीं। न जाने कितनी तरह के कलरव मेरे कानों पर आकर बज उठे, पर मैंने सुना कुछ भी नहीं। रेल-गाड़ी को भी विकट कर्कश-ध्वनि धीरे-धीरे बन्द हो चली, 'महात्मा की जय' की आवाज दो-चार बार जोरों से उठकर थम चली ; दूर से आती हुई बैंड बाजे की सुरीली काकली धीमी होकर विलीन हो चली, और उस किशोरी के अंतर की श्मशान-शून्यता धीरे-धीरे हर जगह जर्-जर् पर एक गंभीर विषाद की छाया बन

कर छा गई। मैं अभी चुप खड़ा था। हृत्स्पन्दन भी चुप था। केवल दिमाग इसी घटना को लेकर व्यस्त था।

हाय ! फूल-शय्या चिता हो गई, मनोवांछा व्यथा हो गई। चमन के फूल कहाँ मिट गये—हृदय के फूल कहाँ लुट गये ? भगवान् ! यौवन के रंगमंच पर आज की रात वह प्रथम-प्रथम घुँघरू बाँधती, काम की करतालियों के जोश पर किसी तरह लज्जा की जड़ता को अंगों से दूर हटाती, पर हाय ! जिसके हाथों में हाथ देकर उसे नाचना था, वह अचानक अपना अन्तिम नाच नाच चुका। महफिल का सारा सामान सुबह का चाँद हो गया। “वह चमन ही मिट गया, जिसमें बहार आने को थी।” रह गया एक निविड़ अन्धकार—एक अनन्त हाहाकार ! हाय रे निष्ठुर विधि ! एक रात की स्मृति भी इसे जिन्दा रखने के लिये तुझसे छोड़ते न बनी।

हठात् भीतर से किसी ने ठाकरें देकर मुझे सचेत कर डाला। महेन्द्र ! तुम्हारी भूल है। दुनिया के दुःख को देखकर तुम इस कदर विचलित हो पड़े ? ऐसी घटनाएँ तो होती ही रहती हैं और होती ही रहेंगी। तुम इस विराट् समय-प्रवाह में मुझे ऐसा एक भी क्षण दिखा दो, जिस क्षण में इस जगत् में कोई दुःख की लीला न हुई हो ; भरा घर उजड़ न गया हो ; सीमन्त से सिन्दूर न धुला हो तथा माँ-बाप के बुढ़ापे का सहारा अचानक वज्रपात से चूर न हुआ हो ? संसार और क्या है ? मानव-जीवन और क्या है—एक मिथ्या—एक माया। अगर तुम दुःख को देख

कर भाग खड़े हुए, फिर दुःख बिना पीछा किये नहीं मानता । इससे लड़ो, भिड़ो और जीतो । तभी शान्ति मिलेगी । दुःख के अन्तर के अन्तर में वह चीज छिपी है, जिसे योगी हिमाचल के शिखर पर बैठकर भी नहीं पाता—राजा कोहनूर के मिहासन पर बैठकर भी नहीं पाता । अगर तुम इस रत्न को ढूँढ़ते हो तो दुःख के महासागर में डुबकियाँ लगाओ, किनारे पर बैठकर लहरों के आस्फालन से डरने से क्या हाथ आवेगा ? मनुष्य के लिये, प्राणिमात्र के लिये, देश के लिये, अपने सर्वस्व, अपने जीवन पर खेल जाओ । हार हो या जीत, कुछ परवा नहीं । समाज के लिये मनुष्य नहीं, मनुष्य के लिये समाज है—इसी नियम पर अटल रहो । सेवा में एक गंभीर शान्ति है ।

अशोक के फूल

[हजारी प्रसाद द्विवेदी]

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तवकों में कैसा मोहन भाव है ! बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था । एक यह अशोक ही है ।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है । इसलिये नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को महाभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है । कुछ लोगों को मिलता है । वे बहुत दूरदर्शी होते हैं । जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं । मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती । फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है । असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ । उसे बताता हूँ ।

भारतीय साहित्य में और इसीलिये जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम, दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं । ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस

पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था, परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था ! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है । फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया । नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का । अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था । सुन्दरियों के आसिञ्जनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौगुना बढ़ा देता था । वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था । अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान श्रम से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप से निकल जाता है । क्यों ऐसा हुआ ? कन्दर्प-देवता के अन्य वाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-का-त्यों है । अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका ? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है ; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कमी थी भी नहीं । भुलाया गया है अशोक । मेरा मन

उमड़-धुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है । क्या यह मनोहर पुष्प झुलाने की चीज थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी ? कविता क्या सो गई थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है । जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा । याद भी किया तो अपमान करके !

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है ? इसवी सन के आरंभ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था । उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था । पंडितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गंधर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं । कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है । इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे । कन्दर्प यद्यपि काम-देवता का नाम हो गया है तथापि है वह गंधर्व का ही पर्याय । शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर आये थे । लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने वाले जीव न थे । बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं । नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे । अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था । बौद्ध धर्म

को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त-साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह ! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये—न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं। अशोक की भी अपनी स्मृति-परंपरा है। आम की भी है, बकुल की है, चम्पा की भी है। सब क्या हमें मालूम है ? जितना मालूम है उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है ? न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर वाण फेका था। शरीर जल कर राख हो गया और वामनपुराण की गवाही पर, हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पा का फूल बन गया ! ह्रीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-

देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया । यह भी बुरा नहीं हुआ । लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई ! स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया । स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं ।

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ । इस कथा का रहस्य क्या है ? यह पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन है ? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं । सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था । ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है । ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले ?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं—यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुवेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं; तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं । बौद्ध साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गये हैं । महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सान्तानाथिनी वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं ! यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और

उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिये वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं, केवल कटि-देश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धि-प्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुञ्जटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं !

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनका अधीनता नहीं मानी, कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके

प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि जात मान ली गईं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। इसका समाज संभवतः इस स्तर पर था, जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसायटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम। परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व-स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार-वाणिज्य-वाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और आनायास धनी हो जाते थे। सम्भवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्ती काल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे। परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी

बातें क्यों रटी जायँ ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था । जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्त्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही में मित्र बन गईं उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा । असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं । परवर्त्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बड़ी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है ।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है । प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है । असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी । इसे 'मदनोत्सव' कहते थे । महाराज भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था । 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में, इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है । मैं जब अशोक के लाल स्तवकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है । राज-घरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं । कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर

दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमल-तर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हल्की रुन-झुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास ! किसलयों और कुसुम स्तवकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अवीर, कुंकुम, चंदन और पुष्प-संभार से पहले कंदर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अञ्जलि बिखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तवकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है ? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है ? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलकड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है !

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई

थी। वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य ढह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियों को गंधर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया।

मुझे मानवजाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है ; पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाता है। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। घन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदनदेवता का गर्व-खण्डन

किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है ! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायगा, कौन जानता है ! मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी । आज अशोक के पुष्प-स्तवकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल ना जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी ! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान् समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिये चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायँगी, कौन जानता है ! मैं क्या शौक से उदास हुआ हूँ ? माया काटे कटती नहीं । उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं । अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं । कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्पों को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करने-वाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो—‘किसलयप्रसवोऽपि त्रिलासिनां मदयिता दयिता-श्रवणार्पितः !’—परन्तु शाखाओं में लंबित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है । मेरी नस-नस से आज करुण सल्लास की झंझा उत्थित हो रही है । मैं सचमुच उदास हूँ ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं। वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचार निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था वह लुप्त हो गई, धर्मचारियों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी वह वाष्प की भाँति उड़ गई, तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा ? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती घसकेगी। उनके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेट कर ले जायगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन होगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया ! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये, शैव बह गये, शाक्त बह गये। उन दिनों 'श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी

क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था ! कौन बतायगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी ? अशोक-स्तवक का हर फूल और दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है । कैसा झबरा-सा गुल्म है !

मगर उदास होना भी बेकार ही है । अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था । कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है । बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति । यदि बदले बिना वह भागे बढ़ सकती तो वह भी नहीं बदलती । और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ-घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का संवेग-धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता । हम पिस जाते । अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई । पूरी कहाँ बदली है ? पर बदल तो रही है । अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है । पुराने चित्त से उसको देखनेवाला उदास होता है । वह अपने को पंडित समझता है । पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है । जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है । तब वह बोझ नहीं रहती । वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती । कहाँ, अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है । कितनी मस्ती में झूम रहा है । कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से । मैं भी ले सकता हूँ, पर अपने ढंग से ! उदास होना बेकार है !

कवि-चर्चा

[विद्यारामशरण गुप्त]

उस दिन चर्चा छिड़ गई कि हमारे गाँव में कवि कितने हैं। गिनती का काम आसान न था। मण्डली में कोई ऐसा न था जो दावा करता था कि उसका परिचय सबके साथ है। एक मित्र को कहना पड़ा, सबके सब चोर-डाकुओं को पुलिस भी नहीं जानती। जेलखाने में आ कर जो उजागर हो गये हैं, उन्ही को गिन कर ठीक-ठीक नतीजा नहीं निकाला जा सकता। जैसी बात इनके विषय में, वैसी ही कवियों के विषय में !

फिर भी, मित्र लोग एक परिणाम पर पहुँच गये। आबादी का प्रति सैकड़ा एक-बटा दो कवि था। स्त्रियों के अन्तःपुर तक हमारी पहुँच न थी, इसलिए उन्हें छोड़ देना पड़ा।

इतने अधिक कवियों की उपस्थिति से, वहाँ किसी को प्रसन्नता न हुई। जान पड़ा, जैसे उन्हें बहुत पीछे खिसका कर राजा भोज के जमाने में पहुँचा दिया गया हो। सामयिक पत्रों को देख कर भी उन्हें ऐसा ही अनुभव हुआ था। नये-नये कवि, नये-नये छन्द, नये-नये विषय। कहाँ तक वे देखें, कहाँ तक वे पढ़ें। उनका मतलब यह न था कि इन कवियों में पढ़ने योग्य

कुछ नहीं मिलता । कविताएँ हैं, तो पढ़ने योग्य क्यों न होंगी ? और इन्हें पढ़ना भी चाहिए । न पढ़ने से कवि अपमानित होता है । पर कठिनाई उनकी यह थी कि जिसे देखो वही कवि बनकर सामने आना चाहता है । सभी कवि हो जायँगे, तो कविता लिखी किसके लिए जायगो ? सभी के सभी परोसने-वाले बन बैठेंगे तो आहार करने वाला कहाँ से आवेगा ? इतनी अधिकता देख कर हमारे वे मित्र घबराने लगते हैं ।

किसी को कितनी ही घबराहट हो, कविताएँ लिखी ही जाती रहेंगी, वे बन्द न होंगी । आकाश में जब बादल घुमड़ते हैं, तब अपने आप ही घुमड़ते हैं । यह देखना उनका काम नहीं कि नीचे के खेत में कोई बीज उनके स्वागत की तैयारी कर रहा है, अथवा नहीं । अवसर आया और खेत का बीज अपने आप अंकुरित हो उठता है । अंकुरित वह हो क्यों नहीं ? यह सोचकर रुके रहना उसके वश के बाहर है कि कोई उसे देखने आता है अथवा नहीं आता है । इसी तरह अन्न का पौधा जब नई-नई बालों से भर जाता है, तब वह भी मीमांसा करने नहीं बैठता कि आजकल लोगों के हाजमे का क्या हाल है । बाजार की तेजी-मन्दी के तार मँगाने की बात उसके जी में नहीं उठती । उसे तो भर जाना है, नई-नई बालों से ऊपर तक भर जाना है । यह सब अपने आप होता है । पुरवाई हवा बहती है, बादल घुमड़ते हैं, आकाश में इन्द्रधनुष आभूषित होता है, रिमझिम-रिमझिम बूँदें पड़ती हैं और तब अपने आप

ही कण्ठ का स्वर भी फूट उठता है। इस स्वर में शीतलता हो सकती है पुरवाई हवा की, सघनता हो सकती है बादल की, शोभा हो सकती है इन्द्रधनुष की और नृत्यभंगी हो सकती है उन बूँदों की। सब कुछ उसका बाहर से लिया हो सकता है। उसका अपना कुछ न हो, यह असम्भव नहीं। तब भी कण्ठ फूट न पड़े तो क्या करे ? प्रकृति के साथ उसका ऐसा ही निजता का सम्बन्ध है। यह टूट नहीं सकता। नर और नारी के आकर्षण की भाँति यह अपने आप प्रकट हो पड़ता है।

और सच तो यह है, जितने मनुष्य हैं, उतने ही कवि। बच्चे में मनुष्य की तरह कवि भी निहित रहता है। देखते हैं, बच्चा रोता हुआ पैदा होता है। आगे चल कर उसका रोना शब्दों में बदलता है। और कुछ आगे चल कर शब्द भाषा का रूप धरते हैं ! और इसके भी आगे बढ़ने की बात जब आती है, तब भाषा में कवित्व फूटता है। फलतः एक सिरे पर जो रोना है, दूसरे सिरे पर वही कविता, एक जगह जो बच्चा है, दूसरी जगह वही कवि।

मानना पड़ेगा, जितने बोलने वाले हैं, सबके सब वक्ता नहीं होते। वक्ता होने का मौलिक गुण ही उनमें रहता है। इसी नियम के अनुसार सबके जीवन में कवि का रूप प्रकट नहीं होने पाता। प्रकट हो सकता है, इतनी बात है। कागज लिखने के लिए बनता है, यह कौन नहीं मानेगा ? फिर भी कुछ कागज जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं, कुछ रद्दी में चले जाते हैं, कुछ ऐसे

भी जिनका उपयोग दवा की पुड़ियों में हो जाता है। पर इसके लिए हमें अपनी सराहना करनी चाहिए कि हम कोरे कागज ही बन कर इस दुनिया में नहीं आते। हम कुछ अधिक हैं, अर्थात् मनुष्य है।

मनुष्य होने के कारण ही जीवन को हम अपार में, अनन्त में, फैला हुआ देखा चाहते हैं। हमारी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ की, हमारा शरीर मांसल, हमारे हाथ-पैर मजबूत,—इन्हीं सब बातों को लेकर हम चुप नहीं रह सकते। समस्त की, सम्पूर्ण की, निश्शेष की अनुभूति अपने में किये बिना हमारी तृप्ति नहीं होती। जब तक हम अपने को सब ओर फैला न देंगे, तब तक हमारा मनुष्यत्व अधूरा रहेगा। इस अधूरेपन से निकल कर पूरे होने की चाहना में ही कवित्व का उदय है। हममें से कौन है, जिसके भीतर इसकी अखण्ड धारा प्रवाहित न हो? पृथ्वी में एक वित्ता जमीन ऐसी नहीं, जिसके भीतर अथाह समुद्र नहीं पाया जाता। इसी तरह संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसके भीतर कवित्व का यह अगाध रस लहराता नहीं मिलता। जितने काव्य, जितनी कविताएँ, अब तक लिखी गई हैं, वे सब उसके सामने नगण्य हैं। ऐसी हैं जैसे किसी अगाध में से कोई छोटा सोता फूट निकला हो।

पर शरीर से मनुष्य ससीम है। वह उसी को लिये बैठा रहे और शेष जो कुछ है, उससे निज को विच्छिन्न कर ले, यह उसे मुझ कैसे सकता है? अनजान में ही

सही उसे अपनी कुलीनता का बोध है। उसे आभास है कि निखिल के साथ उसका सीधा सम्बन्ध है। इसीसे वह अपने को विराट में उपलब्ध करना चाहता है। इसके बिना जैसे वह अकेले में कहीं निर्वासित हो, निष्कासित हो। इसी से जब वह दूर तक फैली हुई भव्छ चोंदनी को देखता है, तब क्या उछल नहीं पड़ता ? तब क्या उसे यह बोध नहीं होता कि इसी तरह अमल-धवल होकर वह यहाँ, वहाँ और सब जगह बिछ नहीं गया है ? तब क्या उसके भीतर के प्रकाश से सराबोर होकर मुँह से 'वाह ! वाह !' एकदम निकल नहीं पड़ता ? यह उल्लास किसी छन्द में बँधा हो या न बँधा हो, यह एक उच्चकोटि की कविता है। चिरकाल के अनन्त ओठों से घिसकर भी यह पुरानी नहीं पड़ी। इसकी सहायता से मनुष्य पहुँच जाता है नक्षत्रलोक में, मिल जाता है मेघमण्डली में, जहरा उठता है अथाह सागर में। कितनी ही दूरी हो, कितनी ही कठिनाई हो, उसे बाधक नहीं होती। वह अनुभव करता है कि सबके साथ वह एकरूप है। इसीसे चाहता यह है कि वह वृक्षों में जाकर पल्लवित हो जाय, लताओं में मिलकर खिल उठे, नदी के बहाव में और घुमाव में दुर्गम और दुरूह की यात्रा कर ले। शरीर उसका ससीम है तो क्या हुआ ? हृदय और मन के पंख लगाकर वह कहीं भी उड़ जाता है। कहीं भी ज्ञात और अज्ञात के घर पहुँच कर अपनी आत्मीयता प्रकट करते हुए उसे हिचक नहीं होती।

पर जितना भी यह आनन्द है, सब बाहरी है। अपना भी मनुष्य का कुछ होना चाहिए। निजी उसका कुछ न हो, तो उसका गौरव गिर जाता है। इसीसे उसके पास अपनी भी व्यक्तिगत कुछ पूँजी है, और यह है उसकी वेदना। वह आनन्द प्रकाश है, तो यह वेदना छाया। एक वह दिन है, तो दूसरी यह रात। अर्थात् एक के द्वारा हम दूसरे को पाते हैं। नहीं तो वह पाना पाना नहीं रह जाता। वेदना के घाट पर आकर ही आनन्द की धारा तीर्थ-रूप होती है।

इसीसे जब हम किसी की आँख में आँसू देखते हैं, तो उसका खारापन हमारे भीतर के किसी घाव में लगकर चुभता है। इसीसे जब हम किसी का क्रन्दन सुनते हैं, तो हमें यह नहीं लगता है कि यह किसी दूसरे का है। जान पड़ता है, हमारा अपना ही कुछ जैसे यह दूसरे के कण्ठ से निकल पड़ा हो। 'हम' और 'उस' की दीवार उस समय परदे की तरह खिसक जाती है और 'हम' ही 'हम' रह जाते हैं। आनन्द की उपलब्धि से वेदना की उपलब्धि श्रेष्ठ है।

बात यह है कि चाँदनी की निर्मल-धारा में जब हम नहाते हैं, तब हम आत्मीय के नाते उसकी शीतलता निस्संकोच ले लेते हैं। लेकर भी उसे देने के लिए हमारे पास कुछ नहीं होता। हम कुछ दक्षिण पवन नहीं, जो उसके, उस चाँदनी के, कोमल विस्तार पर सुगन्धि का लेपन कर सकें। हम न हों, तब

भी वह मलिन न पड़ जायगी । पर किसी के आँसू या रुदन के विषय में ऐसा नहीं ।

हम न हों, तो किसीके आँसुओं का मूल्य क्या ? जहाँ वे अपने में बरस रहे हैं, वहाँ तो पहले ही सागर या नद हिलोरें ले रहा है । हमारी मिट्टी में आकर ही किसी के आँसू सफल हैं । हमारे क्षेत्र में आकर ही वे संसार की हरियाली बढ़ाते हैं, फूल और सुगन्ध बनकर हँसते और फैलते हैं । दूसरे का रुदन भी हमारे बिना अपना भार अपने आप नहीं झेल सकता । वह निरर्थक हो जाता है । जब वह हमारे भीतर के तन्त्र को स्पर्श करता है, तभी उसमें से अपनी रागिनी निखरती है । इसीसे वेदना को आनन्द से श्रेष्ठ कहा है । वह दो को एक करती है । उसके कारण हमारी छोटी सीमा टूटती है और हम विराट की ओर बढ़ते हैं और विराट हमारी ओर आता है ।

आनन्द और वेदना का यह महाकाव्य आदि से लेकर आज तक प्रत्येक मानव के भीतर रचित और संचित हो रहा है । सभी के सभी इसके भोक्ता हैं । यह ठीक है कि कुछ छोटे होते हैं । उन्हें हम 'खद्योत सम' कहते हैं । यह इसलिये कि उनकी अभिव्यक्ति अपने आपके घेरे से आगे नहीं बढ़ती, उतने के लिए भी उन्हें अँधेरा आवश्यक होता है । और कुछ बड़े होते हैं, ऐसे होते हैं कि उन्हें हम सूर और शशि कहकर अभिनन्दित करते हैं । कुछ हो, जाति दोनों की विभिन्न नहीं । क्षण भी काल है और युग भी काल है ।

जिनकी सीमा छोटी है, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए। छोटा ही बड़े होने का आधार है। बड़े से बड़े की प्रीति, विस्तार और अभिव्यक्ति आरम्भ में छोटी ही थी। एक युवक याद आ रहा है। उनके अनुराग की मूर्ति अपने पिता के घर है। भादों का महीना है, रात अँधेरी। मूसलधार पानी बरस रहा है। पथ का, नाले का, नदी का और नद का भेद पकड़ में नहीं आता। सब एकाकार हो गये हैं। युवक रुकता नहीं, चल देता है। किस तरह वह समुराल के पिछवाड़े पहुँचता है, यह आश्चर्य की बात है। और इससे भी आश्चर्य की बात तो यह कि दीवार पर यह रस्सी लटकती है, और वह भी रेशम-सी मुलायम और मजबूत। हो सकता है यह साँप हो, पर युवक तो अजगर जैसे पथ के पेट से निकलकर यहाँ पहुँचा है। वह भय से अतीत है। रस्सी में उसने साँप नहीं देखा, वरन् साँप ही उसके लिये रस्सी बन गई है। छत पर एकान्त में वह अपनी अनुरागवती के पास पहुँचता है। वह चकित होती है, स्तम्भित रह जाती है। कहती है—“मुझ जैसी—मुझ जैसी न-कुछ के प्रति तुम्हारा यह प्रेम ! जिन्होंने भगवान् को पा लिया है, वे भी इतनी बड़ी साधना न करते होंगे।” सचमुच युवक का प्रेम लुट्र के प्रति था एक के प्रति था। पर उसी एक ने इस स्थान पर एक ऐसा मणि-दीप एक ऐसी जीभ की देहरी के द्वार पर रख दिया, जिसने युग के युग में, भीतर और बाहर एक-सा उजाला फैला दिया है। एक क्षण में युवक का ‘मानस’ किसी एक का न रहकर सबके

लिए खुल पड़ा। अभी तक छोटा जो था, वह बड़ा हो गया, और उथला जो था, वह अगाध हो गया; और जो व्यक्ति था, वह समाज और राष्ट्र हो गया। हम छोटों को निराश होने का कारण नहीं। हम सब उसी युवक के अनुयायी हैं। अभी इस घने अँधियारे में जा रहे हैं, इसलिये हमें कोई नहीं देख पाता। यहाँ तक कि हम स्वयं भी अपने को नहीं देख पाते। तब भी हमें रुकने की आवश्यकता नहीं है। चले चलो, बढ़ जाओ ! क्या ठीक, आगे कोई हमारे लिए भी वैसे ही मणिदीप हाथ में लिये हो। हम निराश नहीं होंगे, हम आशा का साथ नहीं छोड़ेंगे। आशा जीवन है और निराशा मृत्यु। इस आशावादिता में वे मित्र भी हमारे सहयोगी हुए बिना न रहेंगे, जो इस छोटे गाँव में हम छोटे-छोटे कवियों की इतनी संख्या देखकर खीझ उठे हैं।

और, मैं यह मानने को तैयार नहीं कि वे मेरे मित्र स्वयं ही कवि नहीं हैं। मानूँगा, मैंने इनकी कोई छन्दोबद्ध-रचना नहीं देखी। फिर भी उनकी कविता का उपयोग नहीं किया, यह किस तरह मान लूँ ? मैंने उनका प्यार पाया है, स्नेह पाया है, उनकी झिड़की खाई है, उनका क्रोध पाया है। जो कुछ पाया है, सबका सब हृदय-रस में डूबा हुआ। हृदय-रस ही कविता है। जितनी कविताएँ हों वे सबकी सब छन्द में गूँथकर कागज पर रख दी जायँ, यह आवश्यक नहीं। सारा का सारा जल घाट के जलाशय में ही बँध जाय और गंगा और यमुना की धारा में

ही बहता रहे, यह नहीं हो सकता। थल की सतह पर भी उसका अस्तित्व है। वहाँ वह लहरों में उछलता नहीं मिलता, तट पर क्रीड़ा करता नहीं पाया जाता; प्रवाह के कल-कल में और गंभीर घरघराहट में धूमता, फिरता, दौड़ता और थमककर चलता हुआ नहीं दिखाई देता। वहाँ उसका दूसरा रूप है। वहाँ वह छोटी-छोटी दूब में दूर तक बिछा है, वहाँ वह लताओं के अंचल में रंग-बिरंगा होकर झूमता है। वहाँ वह उद्यान है, वह सघन वन है।

पुराने समय के कुछ ही कवियों को हम जानते हैं, इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि इतने ही कवि उस समय रहे होंगे। इतिहास में थोड़े ही व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, पर उस काल में उनको छोड़ कर और कोई न होगा, यह हम नहीं मानते। आजकल की भाँति ही सब कालों में कवि असंख्य रहे हैं और रहेंगे।

पृथ्वी पर कहीं समुद्र है, कहीं खाड़ी है, कहीं गंगा-जमुना है, कहीं झरना है, कहीं सरोवर है। नये-नये घाट और नये-नये तीर्थ। जहाँ ये नहीं हैं, क्या वहाँ लोग प्यासे मरेंगे? वहाँ हम कुएँ के छोटे-से घाट पर ही तृप्त होते हैं। कुएँ का जल ही वहाँ हमें तरी पहुँचाता है। कुआँ छोटा हो, तब भी वह हमारे लिये है। वह हमारे लिये आश्वासन है कि कहीं भी उसे पाकर हम जीवित रह सकते हैं। हम छोटे-मोटे कवि इन्हीं कुओं जैसे हैं, जो आवश्यकतानुसार जहाँ-तहाँ प्रकट होते हैं। हम अपने प्रति

अकृतज्ञ क्यों हों ? क्यों हम अपने को निस्सार समझें ? बड़े-बड़े तीर्थ कुछ लोगों के लिये, कुछ भाग्यवानों के लिये हैं, क्योंकि वे सब जगह नहीं जा सकते । हम छोटे हैं, इसलिये हमें यह रुकावट नहीं । हमारी पहुँच घर-घर है । कहीं भी पहुँचने में हमें प्रयास नहीं पड़ता । और, कुआँ कह कर यदि हम अपने को कुछ अधिक कहते हों तो, मिट्टी की गगरी होकर भी हम हीन नहीं होंगे । उसका जल और भी शीतल और स्वादिष्ट और सुलभ होगा । वह मांगलिक है ।

चन्द्रगुप्त की तलवार

[राधाकृष्ण]

गर्मी से हैरान-परेशान होकर छत पर पहुँचा। वहाँ भी वही किरसा था। अपने मन को बार-बार समझाता था कि गर्मी कम है। यद्यपि वहाँ की हवा ठण्डी न थी, तथापि कल्पना किये जाता था कि शीतल-सुखद बयार का झोंका बस अब इधर ही चला आ रहा है।

मगर ठण्डी हवा का झोंका तो नहीं आया, दरवाजे पर एक 'बेबी आस्टिन' आकर खड़ी हो गई। यह संसार का महान् आश्चर्य था। मुझ जैसे साधारण व्यक्ति बच्चूलाल के यहाँ मोटर पर चढ़कर कौन आया ! इतने में देखता हूँ कि मोटर का दरवाजा खुला और उसमें से...अरे यह क्या...यदि जुबैदा खातून के मूँछें निकल आतीं तब भी मुझे उतना आश्चर्य नहीं होता जितना अवम्भा उस गाड़ी से पंडित रुद्राक्ष मिश्र को निकलते देखकर हुआ।

लेकिन पंडितजी मोटर से उतरने के बाद सीधे मेरे घर में नहीं घुसे। गाड़ी से उतर कर उन्होंने एक बार उस मोटर की प्रदक्षिणा की। घूम-घूम कर उसके चारो टायरों का निरीक्षण

किया। खूब गौर करके देखने लगे कि कहीं घिस तो नहीं गया है। यदि कुछ घिसा-घिसाया भी है तो उसका परिमाण कितना है। उसके बाद ड्राइवर को पुकारा—“अजी ड्राइवर.. नहीं-नहीं, शोफर !”

“जी !” उसने कहा।

पंडितजी बोले—“देखो, मैं इस मकान के बाबू से मिलने जाता हूँ। तब तक टक्की के अन्दर डंडा लगाकर देखो कि घर से यहाँ तक आने में कितना पेट्रोल खर्च हुआ। पेट्रोल का तुम्हें पूरा हिसाब रखना पड़ेगा कि एक घंटे में कितना पेट्रोल खर्च होता है, एक मील में कितना लगता है और घर से यहाँ तक आने में कितना सुखता है।”

ड्राइवर ने कहा—“घर से इतनी दूर आने में पेट्रोल नहीं देखा जाता।”

पंडितजी बोले—“मगर तुम्हारा बेकार बैठना भी तो ठीक नहीं। कुछ न हो तो हवा ही भरना शुरू कर दो।”

ड्राइवर ने कहा—“हवा तो गाड़ी में बिल्कुल कम्प्लीट है।”

पंडितजी कुछ चिढ़ कर बोले—“लेकिन फिर भी तुम्हारा बेकार बैठे रहना ठीक नहीं है। मैं अन्दर जाता हूँ तब तक तुम गाड़ी का ‘मोबिल आयल’ बदल दो।”

ड्राइवर ने कहा—“मोबिल आयल तो एक हजार मील चलने के बाद बदला जाता है।”

पण्डितजी ने दाँत पीस कर कहा—“इससे तो यही मालूम होता है कि तुम बैठे ही रहना चाहते हो। इतमीनान से बैठो, मेरा क्या ! इसीलिये लोग अपने ड्राइवर को निकम्मा कहते हैं। अच्छा, तो बैठ जाओ गाड़ी पर। देखते रहो कि गाड़ी पर कोई बैठने नहीं पावे। अगर कोई लड़का-वड़का आकर मोटर पर बैठ जाय तो कसकर चाँटा मारना। कह देना, पण्डित रुद्राक्ष मिश्र की गाड़ी है।”

फिर पण्डितजी लपके हुए मेरे दरवाजे पर पहुँचे। बड़े जोर की हाँक लगाई—“अजी बच्चू, घर पर हो जी ?”

छत पर से सारा माजरा देख ही चुका था। लपका हुआ नीचे आया। कमरे का दरवाजा खोला और पण्डितजी ने एक विशाल कुरसी पर अपना कलेवर स्थापित कर दिया। आज तो उनका हुलिया ही बदला हुआ था। अपने भूधराकार शरीर पर साटन का अचकन चढ़ाये हुए थे। सिर पर छींट की पगड़ी शोभायमान थी। पैरों में बढ़िया जूता और रेशमी मोजा। बोले—“अजी बच्चू, क्या बतलावें, आज-कल फुरसत कम रहती है। इसलिये आना-जाना नहीं होता। काम की अधिकता से एक गाड़ी भी खरीद ली है। वह देखो, बाहर खड़ी है। है न ?”

मैंने हैरत से कहा—“पण्डितजी, मेरा तो खयाल कुछ दूसरा था। मैंने समझा था कि गाड़ी दूसरे किसी की है। माँग-जाँच कर आप मुझपर रोब जमाने लगे हैं।”

“अजी, नहीं,” पण्डित जी ने कहा, “यह तो बिल्कुल ही हमारी गाड़ी है। इसमें लेश मात्र भी किसी का कुछ नहीं है। इस गाड़ी के पहिये से लेकर मस्तूल तक बस हमारा ही हमारा है। इसपर बैठ कर मैं चाहे जहाँ जा सकता हूँ, चाहे जिसके यहाँ घंटों बैठ सकता हूँ। तुम्हें भी अगर सिनेमा-सरकस जाने की जरूरत हो तो मँगवा लेना। समझो कि अपनी ही मोटर है।”

“मगर आपको इतना पैसा कहाँ से मिल गया ?” मैंने पूछा।

“पैसा.. !” पण्डित जी ने कहा, “सो भई पैसे की न पूछो। इसका एक किस्सा है। वह किस्सा ऐसा है कि एक बार चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को बुलाया...”

“लेकिन चन्द्रगुप्त और चाणक्य से और इस बेबी आस्टिन से क्या सरोकार है ?” मैंने चकित होकर पूछा।

“सरोकार ?—बिल्कुल सीधा सरोकार है !” पण्डित जी ने कहा, “वे तो चन्द्रगुप्त और चाणक्य ही थे जिन्होंने हमें यह मोटर दिलाई है। इस मोटर के पुर्जे-पुर्जे से दोनों का सरोकार है। यदि चाणक्य और चन्द्रगुप्त न होते तो मेरे पास न यह मोटर होती और न मैं ऐसा बढ़िया अचकन ही सिलवा सकता। इसलिये इस मोटर का चाणक्य-चन्द्रगुप्त से बिल्कुल सीधा सरोकार है।”

पण्डित जी ने बात को कुछ इस आत्मविश्वास से कहा कि मुझे रत्ती-भर भी सन्देह नहीं रहा। विश्वास हो गया कि चन्द्र-

गुप्त ने ही इनके लिये मोटर खरीद दी होगी ! आश्चर्य से अवाक् होकर एकटक पण्डित जी की ओर देखने लगा ।

पण्डित जी ने कहा, “सुनो, एक बार की बात है कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा—‘आओ, तुम्हें राजनीति की शिक्षा दें ।’

“यह कई हजार वर्ष पहले की कथा है । उस समय कालिदास भी नहीं हुए थे । तब वराहमिहिर और वररुचि ने भी जन्म नहीं लिया था । हाँ, बुद्धदेव और महावीर ने पैदा होकर लोगों को खटमल और मच्छड़ मारने से मना कर दिया था । ज्यादा तंग करने पर केवल चूहे ही मारे जाते थे और युद्ध किया जाता था । यह उस समय की बात है जब चन्द्रगुप्त बिल्कुल छोकरा था । चढ़ती हुई उम्र थी । मसैं भींग रही थीं । उस समय वह उन्नीस-बीस साल का रहा होगा । चाणक्य की बात सुनते ही चन्द्रगुप्त के रोंगटे खड़े हो गये । फिर वह स्वयं भी छठकर खड़ा हो गया और दर्प के साथ बोला—‘चलिये !’

“चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा, ‘मेरा विचार है कि तुम्हें ले चलकर इस वार कुछ संसार की वास्तविक राजनीति सिखला दूँ । तैयार हो न ?’

“चन्द्रगुप्त भला तैयार क्यों न हो ! प्रसन्नता-पुलकित गद्गद वाणी में बोला, ‘गुरुवर, जिस प्रकार तरुवर केहरीनाद श्रवण करने को तत्पर होता है, सैन्य-व्यूह सेनापति की आज्ञा श्रवण करने को प्रस्तुत होता है, और जिस प्रकार महाभैरव अट्टहास करके भीषण हुंकार करने के लिये तैयार रहते हैं, जिस प्रकार देवाधिदेव

महादेव दोनों भुजाओं को उठाकर, कमर मटका कर ताण्डव नृत्य के लिये तैयार होते हैं और जिस प्रकार महाकाली... महाकाली... जिस प्रकार महाकाली.....महाकाली.....

“हाँ, तो कहने का मतलब यह है कि चन्द्रगुप्त बड़ी वीरता के साथ अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार चलने को तैयार हो गया। दोनों चल पड़े। आगे-आगे चन्द्रगुप्त, पीछे-पीछे चाणक्य। ऐसा मालूम होता था मानों दिन के बाद रात जा रही हो। सो इस प्रकार की बड़ी अच्छी उपमा बनाकर वे लोग जाने लगे। चलते-चलते ग्राम, वन-वनान्त आदि बहुत-सी जगहों को पार करके वे लोग एक जमींदार के यहाँ पहुँचे। इतिहास के ग्रंथ के समान मोटा जमींदार इन दोनों को देख कर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने देखा कि यह ब्राह्मण उपनिषद् के समान दुबला-पतला है और छोकरा गायत्री मन्त्र के समान छोटा है। इन्हें अगर नौकर रख लिया जाय तो ये खाएँगे कम और काम करेंगे ज्यादा। मगर चाणक्य ने अपना और चन्द्रगुप्त का पूर्ण परिचय दिया तो जमींदार महोदय का हौसला हवा हो गया। उसने बतलाया कि यह छोकरा मगध के साम्राज्य से युद्ध छेड़ेगा। यह राजा नन्द के ऊपर चढ़ाई करेगा और उसकी सेना से खूब लड़ेगा। लड़ते-लड़ते यह पूरी तरह नन्द को परास्त करेगा। नन्द को परास्त करने के बाद यह मगध को शान्त करेगा। शान्त करने के बाद यह राजगद्दी पर बैठेगा। उस समय बड़ा भारी उत्सव मनाया जायगा। ढोल, भेरी और पणव बजेंगे। बड़ी

भारी शंखध्वनि होगी। खूब हंगामा होगा। उस राजतिलक के समय यह चन्द्रगुप्त तुम्हारा नाम लेकर घोषणा करेगा कि अमुक गाँव का अमुक जमींदार सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र घोषित किया जाता है और उसे एक स्वतन्त्र सम्राट् स्वीकार किया जाता है। इसलिये मेरी राय है कि तुम चन्द्रगुप्त से संधि कर लो।

“यह हेतुहेतुमद्भूत-जैसी बात सुनकर वह जमींदार परम पुलकित हो गया। प्रसन्न होकर बोला, ‘श्रीमान् से संधि करने के लिये तो मैं बिलकुल तैयार हूँ, लेकिन मुझे यह बतलाइये कि संधि करने के बाद मुझे क्या करना होगा?’

“चाणक्य ने गम्भीर होकर कहा, ‘सम्राट् चन्द्रगुप्त बड़े ही महत्त्व-पूर्ण कार्य को लेकर तुम्हारे पास आये हैं। इनके साथ कोई ऐसा आदमी नहीं है जिसका ये विश्वास कर सकें। इसलिये सम्राट् चन्द्रगुप्त तुम्हें अपना कोषाध्यक्ष निर्वाचित करते हैं। आज शाम को ये तुम्हें तीन टोकरी हीरा, दस टोकरी पुखराज और नब्बे सोने की मुगदरें देंगे। इन्हीं चीजों के साथ एक नगाड़े में नीलम भी भरा हुआ है। जिस गुफा में ये चीजें पड़ी हुई हैं, तुम्हें वह दिखला दी जायगी। उसके बाद उस कोष को बढ़ाना और सामरिक कार्यों में लगाना तुम्हारा फर्ज होगा। अगर तुम उस कोष में अपना द्रव्य लगाओगे, तो युद्ध के बाद जिस प्रकार तुम्हें सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र नरेश घोषित किया जायेगा उसी प्रकार तुम्हारे धन को भी सहस्र गुना बढ़ा दिया जायगा।’

“कैसे?’ जमींदार ने प्रश्न किया।

“चाणक्य ने कहा, ‘जैसे तुमने कोष में तीन हीरा प्रदान किया तो उसके बदले में तुम्हें तीन सहस्र तीन सौ तीन हीरे दिये जायँगे। इसके अलावा चन्द्रगुप्त बड़े आदर के साथ तुम्हारे कन्धे को थपथपाएँगे।’

“वह जमींदार प्रसन्नता से उछल पड़ा, ‘मैं आपको तीस हीरे दूँगा—तीस, और तमाम धन का कोषाध्यक्ष भी हो जाऊँगा—हाँ।’

“चाणक्य ने कहा, ‘तो अपने तीसो हीरे ले लो और चलो, तुम्हें वह कोष दिखला ही दिया जाय। अभी से ही तुम कोष-मंत्री हो गये।’

“वह जमींदार अपने हीरो को लेकर चल पड़ा। जाते-जाते वे लोग एक पहाड़ के समीप पहुँचे। वहाँ पर एक विशाल चट्टान को दिखा कर चाणक्य ने उससे कहा, ‘उस चट्टान को हटाओ और सारे कोष का जिम्मा ले लो।’

“भगर चट्टान देखते ही जमींदार के होश उड़ गये। परेशान हो कर पूछा, ‘मुझसे भला यह शिला हिल भी सकती है?’

“चाणक्य ने कहा, ‘अजी, चन्द्रगुप्त तो एक ही धक्के में इस शिलाखण्ड को लुढ़का देते हैं। तुम भी जोर लगाओ और हीरा-पुखराज आदि का जिम्मा ले लो।’

“उत्साह पा कर वह जमींदार आगे बढ़ा और चट्टान को हिलाने लगा। चट्टान अचल है और ये हज़रत जोर लगाये चले जाते

हैं। पसीने से लथपथ। काँखते हैं और जोर मारे जाते हैं। उधर चट्टान है कि न टस होती है, न मस होती है।

“चन्द्रगुप्त ने इस दृश्य को देखा तो हँसते हुए बोले, ‘बेचारा व्यर्थ ही परिश्रम कर रहा है!’

“चाणक्य ने आँखें तरेर कर कहा, ‘यदि तुम यह जानते हो तो उसे मुक्ति क्यों नहीं दे देते?’

“ओह, गुरुदेव की यह आज्ञा है?’

“चन्द्रगुप्त की आँखें हिंसा से चमक उठीं।

“उसके बाद वह तलवार निकाल कर टूट पड़ा और तेजी से जमींदार का सिर काट दिया। चाणक्य ने उसकी गँठ से हीरे निकाल लिये और हँसते हुए कहा—‘यही असली राजनीति है। लम्बा-चौड़ा वादा करो, लेकिन उसे कभी पूरा न करो। जो सहायता दे उसी का सर्वनाश कर दो। जिसे धन देने को कहो उसी का धन लूट लो। इतनी थोड़ी-सी राजनीति अगर तुम सीख सको तो आगे चल कर आदमी हो जाओगे।’

“चन्द्रगुप्त अपने गुरु की बात सुन कर स्तंभित हो गया। पाँच मिनट, नहीं-नहीं, पाँच निमेष वह सोचता रहा और बोला—‘गुरुदेव, अगर यही राजनीति है तो ऐसी राजनीति से मैं वाज आता हूँ।’

“इसके बाद उसने अपनी तलवार घुमाकर न मालूम किधर फेंक दी। चाणक्य इस पर बिगड़ने लगा। डाँट कर कहा, ‘बेहूदा है, नालायक है, निकम्मा है...’

“इस तरह की भाँति-भाँति की फटकार सुनकर चन्द्रगुप्त को चेत हुआ। वह राजी हो गया। लेकिन उसकी तलवार बहुत खोजने पर भी नहीं मिली। उस समय रात हो आई थी। अमावस्या की रात। गुरु-चेला बड़ी देर तक तलवार खोजते रहे। उसके बाद निराश होकर वापस लौट गये।

“संयोग की बात देखो,” पंडित रुद्राक्ष मिश्र ने कहा, “वह तलवार मेरे हाथ लग गई। उस पर उस समय की लिपि में चन्द्रगुप्त का नाम खुदा हुआ था। मैंने उस तलवार को दस हजार में कैप्टेन किलनर के हाथ बेचा, बारह हजार में मेजर मउस-हउस को दिया, सात हजार में ब्रिगेडियर टसकस को सौंपा। इस तरह मेरे हाथ में रुपये आये और मैंने मोटर खरीदी। अब तुम्हीं बतला सकते हो कि इस मोटर से और चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त से कैसा गहरा सम्बन्ध है। अभी परसों फिर उस तलवार को आठ हजार में एडमिनिस्ट्रेटिव कमांडेंट मिस्टर सास को बेच रहा हूँ।”

बात तो बड़े अचम्भे की है। एक ही तलवार और पंडितजी ने तीन आदमियों के हाथ बेच दी। अब फिर एक चौथे आदमी को बेचनेवाले हैं। आश्चर्य से चकित होकर मैंने कहा, “पंडित जी, आपकी बात से मुझे मालूम होता है कि मेरा दिमाग सिल-सिले में नहीं है। अगर एक बात पूछूँ तो बुरा न मानियेगा।

मेरा कहना यही है कि चन्द्रगुप्त ने तो एक ही तलवार फेंकी थी फिर आपको चार कहाँ से मिल गई ?”

पंडित जी ने कहा, “इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं है । जो लुहार चार तलवारें बना सकता है वह पाँच तलवारें भी बना सकता है । मिस्टर सास के बाद मेरे पास एक तलवार और भी चन्द्रगुप्त की निशानी रह जायगी । किसी अमेरिकन को पकड़ कर उसे भी उसके गले मढ़ दूँगा । इस तरह की मेरे पास बहुत-सी चीजें हैं । सम्राट् कनिष्क की चुनौटी, गुरु गोरखनाथ की चिलम, समुद्रगुप्त का हुक्का, बाबर का पानदान, औरंगजेब की दँतखोदनी, शेरशाह के घोड़े का चारजामा कभी चलकर मेरा संग्रहालय देखो तो तुम्हारी अकल ठिकाने आ जायगी । अगर किसी अमेरिकन को पकड़ लाओ और कुछ माल निकाल दो तो तुम्हें भी सैकड़ पचीस कमीशन दिया जायगा ।”

अब सारा रहस्य समझ में आ गया । पंडित जी ऐसी चीजें बनवा लेते हैं और किसी अमेरिकन को फँसाकर उसके गले मढ़ देते हैं । यह पुरातत्व का रोजगार तो पंडित जी ने अच्छा खड़ा किया है । वे खरीदनेवाले भी समझते होंगे कि भारतीय इतिहास की बड़ी भारी सम्पदा हमने बटोर ली है ।

मैंने पूछा, “लेकिन आपने चाणक्य और चन्द्रगुप्त की जो कहानी सुनाई, वह भी तो ऐतिहासिक नहीं, मनगढ़न्त मालूम होती है ।”

पंडित रुद्रान्न मिश्र ने विरक्त होकर कहा, “तब तो मालूम होता है कि तुमने उस महापुरुष की उक्ति नहीं सुनी है ?”

“कौन सी उक्ति ?”

पंडितजी बोले, “उस महापुरुष का वचन है कि भारतीय भाइयो, यह हम हैं जो भारतवर्ष के इतिहास को बना रहे हैं !”

सो पंडितजी भी भारतवर्ष के इतिहास को बना रहे थे !

बैलगाड़ी

[दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी]

नित्य नए आविष्कारों के इस युग में जब बैलगाड़ी के आविष्कर्ता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने बैठा हूँ तब भय होता है कहीं अप्रगतिशील, अनुदार और विवेकशून्य न समझ लिया जाऊँ। तरतीब से लगाई, मिहनत से सजी-सँवारी, लाखों की लागत की फुलवारी भी देखी है, जिसपर फुलवारी के मालिक बस्ती के जमींदार को नाज था कि उसके यहाँ फुलवारी की शोभा देखने बड़े लाट तक आए थे, और पगडंडी का अछूता अकेला फूल भी देखा है जो अपने अकेलेपन में मगन अपनी लुनाई बिखेरता था, और मेरे मन ने उस अकेले फूल को ही सुन्दर समझा है, यद्यपि मेरे मस्तिष्क ने जमींदार की फुलवारी की विशद महत्ता स्वीकार की है। मेरा मस्तिष्क मुझे बतलाता है, आज के युग में हवाईजहाज है, टेलिवीजन है, फोटो इलेक्ट्रिक सेल हैं और प्रगतिशीलता के अर्थ में इनके साथ पुरानी बैलगाड़ी की याद करना अपने दक्कियानूसीपन का ही परिचय देना है। पर यह मेरा मन है कि कहता है, इन आविष्कारों की बैलगाड़ी से कोई तुलना नहीं। बैलगाड़ी में कुछ जादू है जिसका कहीं दूसरी जगह

नामोनिशान नहीं, बैलगाड़ी का अपना मर्म है जिसकी गहराई को दुनिया का कोई आविष्कार पा नहीं सकता और बैलगाड़ी का अपना एक व्यक्तित्व है जो सब तरह अद्वितीय है ।

बैलगाड़ी मेरे लिये एक वस्तु नहीं, प्रतीक है । उसमें गति है, पर साथ ही उलझन नहीं, सादगी है । वह निर्जीव है पर उसके निर्जीव यंत्रों की गतिशीलता निर्जीव कोयले और भाप पर आश्रित न होकर सजीव बैलों पर आश्रित है । उसकी गति-न्यूनता में दुर्घटना-विहीनता निहित है । गति के साथ उलझनों से मुक्ति, निर्जीव के साथ सजीव का सामंजस्य, प्रगति और दुर्घटना के अन्यान्य सहयोग का लोप—क्या ये युग की समस्याएँ नहीं हैं ? जहाँ हमने उन्नति की है वहाँ अपने लिए हमने उलझनें भी सिरजी हैं, हवाई जहाज हमने जहाँ तैयार किया वहाँ 'गैस मास्क' भी हमें तैयार करने पड़े; जहाँ हमने निर्जीव मशीनों का चमत्कार दिया है वहाँ उन्हें सजीव मनुष्यों के अहित का साधन भी बनाया है । अर्थशास्त्र के अध्यापकों से अपने छात्र-जीवन से ही सुनता आ रहा हूँ, मशीनों की एक-एक नयी उन्नति का मोल हमें हजारों मनुष्यों की बेकारी से चुकाना पड़ा है; जहाँ अपनी गति तीव्रता का हमें गौरव है वहाँ दुर्घटनाओं की बहुलता का कलंक भी—बिहटा दुर्घटना की स्मृति अभी ताजी है । और यह बैलगाड़ी है जो चलती है पर जिसकी बनावट में कहीं पेंचीदापन नहीं, जिसमें सजीव बैलों की महत्ता निर्जीव 'बल्लों', 'जुए' और 'धुरकिल्लियों' की महत्ता से अधिक है; जिसमें खूब तेज

चलने की ताकत नहीं तो दुर्घटनाओं का डर भी नहीं । इसीलिए कहता हूँ, इस युग की त्रुटियों की ओर बैलगाड़ी एक इंगित है, आज विविध वैषम्य के समाधान के लिए एक प्रतीक है ।

यातायात के साधनों की संख्या अविश्वसनीय रूप से बढ़ी है, उन साधनों के रूप अत्यधिक परिष्कृत हुए हैं, पर इस वृद्धि और इस परिष्कार ने हमारी यात्रा की कविता का गला घोट दिया । ट्राम में बैठिए तो उच्चकर चढ़ने और झलांग भरकर उतरने की फिक्र है, घंटियों की बार-बार कर्णकटु क्रिन-क्रिनन से आपके विचारों को व्याघात पहुँचता है, बस है तो कन्डक्टरों की पैसा-वसूली, उनका हिसाब-किताब और चौअन्नी-अठन्नी के फिरते की तलाश आपको चैन नहीं लेने देती और रेलगाड़ी के सफर में टाइम-टेबिलों के पठन-पाठन, असबाब की नाप-जोख और इन्जिन के कोयले भरे धुएँ से आपका बुरा हाल है, हवाई जहाज से राहतय करने की आपने ठानी भी तो इन्जिनों के प्रलयंकर गर्जन का आपको सामना करना है, तंग जगह में कैद होकर आपको बैठना है और फिर चूँकि हर मुसाफिर के लिए उसके शरीर के वजन के साथ-साथ एक खास वजन तक असबाब ले जाने का हवाई यात्रा में हिसाब है, आपकी देह का वजन आपके सौभाग्य से अगर अच्छा है तो अपने दुर्भाग्य से आप अपेक्षाकृत कम ही सामान अपने साथ ले जा सकेंगे । लेकिन बैलगाड़ी इस तरह की कोई असुविधा आपको नहीं देती; यहाँ न कोई हुजूम है न पाबन्दी, न जगह की वैसी कैद न

आपके वजन की वैसी जाँच । यात्रा की सर्वोत्तम स्वच्छंदता बलगाड़ी की ही यात्रा में है और आज की व्यग्रता और नियम-बद्धता की दुनिया में दो क्षण स्वच्छंदता की साँस लेने को ही तो अधिकतर हम यात्राओं को निकलते हैं ।

चाँदनी रात में घर से स्टेशन के लिए बार-बार बैलगाड़ी की यात्रा की है । दस मील का यह सफर मेरे लिए वैसा ही सजीव और महत्वपूर्ण है जैसे सजीव और महत्त्वपूर्ण उस लेखक के लिए वे दस दिन जिनके बारे में उसने वह किताब लिखी है—‘टेन डेज दैट शुक्र दि वर्ल्ड’—‘दस दिन जब दुनिया काँपी थी ।’ देहात की ऊबड़-खाबड़, कहीं हरियाली भरी, कहीं धूल-धूसरित, सूनी राह, ऊपर खुला आसमान, नीचे खुले खेत, सरेह-रात की निबिड़ चुप्पी, उस चुप्पी के भीतर से जब-तब पशु-पक्षियों की रहस्यमयी ध्वनियाँ और इन सबके बीच अपनी असल एकरस गति से जाती हमारी बैलगाड़ी, जिसके वेलों के गले की घंटियों की मधुर टिन-टन, टुन-टुन, सुन्दर संगीत बिखेरती, जिसके पहियों की चीं-चीं, चूँ-चूँ एक अनुपम तंद्रा का संचार करती और मेरी देह के नीचे जिसकी बाँस की पट्टियाँ हिल-डुल मेरे उर्नीदेपन के लिए मुझे उलाहना दिया करतीं—इस वातावरण में आँखें मूँद निश्चेष्ट पड़ा जब-जब घर से स्टेशन की राह तय की है तब-तब प्राणों में एक गुदगुदी अनुभव की है जिससे कविता शायद जन्म लेती है । मेरे पास दो नुस्खे हैं जिनका मैं तमाम दुनिया में प्रचार चाहता हूँ—अकेलापन पसन्द है तो

शहर में घर कीजिए, कब्रि बनना है तो बैलगाड़ी का सफर कीजिए। शहर का कोलाहल भ्रम है, एकान्त सत्य, शहर की हलचल में कौन किसे पूछता है ? वहाँ की सारी व्यस्तता के बीच में भी आप एकदम अकेले हैं। अकेलापन देहात में नहीं, वहाँ एकान्त में भी जब आप होते हैं आप जानते हैं, गाँव का हर आदमी आपको जानता-समझता है और आप ही जिंदगी की प्रत्येक समस्या में वहाँ सभी अभिरुचि रखते हैं। इसी प्रकार गद्य-ही-गद्य दीखनेवाली बैलगाड़ी में जो कविता है वह बाहर से कवित्वपूर्ण दीखनेवाली किसी वस्तु में नहीं।

आधुनिक संसार की चकाचौंध में आप शायद सोचते हों, ये बैलगाड़ियाँ शेषनाग पर टिकी सृष्टि के पहले की चीज हैं, न इनके आकार-प्रकार में कोई नियमितता है, न इनके चलने-फिरने में कोई नियम-बद्धता। ब्रिटिश साम्राज्य के 'बाएँ रहिए' यात्रा-नियम की ओर आपका ध्यान जाता है और फ्रांस के 'दाएँ रहिए' नियम की ओर; रेल के रंगीन सिगनलों की तमचीरें आपके आगे आती हैं, लंदन के 'बेलिशा बेकन' और यंत्रचालित 'ट्रैफिक पुलिसमैन' की भी बात आप सोचते हैं और कहते हैं, मगर ये बैलगाड़ियाँ हैं जो विलकुल मनमानी राह चलती हैं, गाड़ीवान की इच्छा ही इन बैलगाड़ियों की दुनिया का कानून है। बात ऐसी नहीं। बैलगाड़ियों के भी अपने 'ट्रैफिक-सिगनल' ('यात्रा-संकेत') हैं; उनका भी अपना एक 'कोड' है, अपनी नियमावली है। मैंने हमेशा देखा है, जब दो बैलगाड़ियाँ आमने

सामने किसी राह में मिलती हैं तो भारी बोझवाली गाड़ी के लिये हल्के बोझवाली गाड़ी को ही जगह बनानी होती है। यह भी देखा है, जब दो बैलगाड़ियाँ एक साथ एक ही दिशा में चलने को होती हैं तब तेज चलनेवाले बैल हमेशा अगली गाड़ी में जुतते हैं ताकि मद्धिम बैलोंवाली गाड़ी उन तेज बैलों के पीछे-पीछे चल उनकी गति से अपनी गति के लिये प्रेरणा पा सकें। फिर, रास्ते की तरह-तरह की कठिनाइयों के लिए, ऊँचा-नीचा, ढाल, तिरछा या चढ़ाव, इन चीजों के लिए बैलों को मुनासिब इशारे के संकेत-शब्द हैं जो निश्चित हैं और जिनका व्यवहार दूर-दूर भागों के गाड़ीवान एक-सा करने हैं। बैलों को बढ़ावा या गाली देने के शब्दों में भी एक सर्व-सम्मानित समानता मिलती है। बैलगाड़ियों और गाड़ीवानों की दुनिया के ये संकेत-चिह्न और शब्दावली उतनी ही जटिल, रूढ़ और व्यापक हैं जितने रेलवे के सिगनल या 'ट्रैफिक पुलिसमैन' के इशारे या तार का 'कोड' !

कुछ दिन पहले कांग्रेस के एक अधिवेशन के अवसर पर मनोनीत राष्ट्रपति का जुलूस बैलगाड़ियों का निकला था। मुझे उस बात ने प्रभावित किया था। बैलगाड़ी एक अर्थ में भारतीयता का एक दूसरा स्वरूप है। उसमें गति है, प्रगति नहीं, उसमें शक्ति है, पर गांभीर्य और धैर्य ही उस शक्ति की विशेषताएँ हैं, न कि उत्सुकता और तीव्रता; वह हमारी बुद्धि की अपेक्षा हमारी भावनाओं को अधिक स्पर्श करती है, उसमें सरलता है, उलझन नहीं, उसकी आकृति सीधी-सादी है—पर उसकी आत्मा में किसी

गूढ़, चिरंतन रहस्य का आभास है और उसकी चाल में एक अविचल एकरसता है, जो उसकी शालीनता और उसके परम्परा प्रेम का द्योतक है। क्या ये सब बातें भारतीयता के लक्षण नहीं हैं ?

मेरे लिए बैलगाड़ी की एक दूसरी महत्ता भी है जो निजी होकर भी शायद दूसरों की अभिरुचि की होगी, क्योंकि उस महत्ता का बोध थोड़ा-बहुत उन सबों को हुआ होगा जो अपनी जीविका के लिए शहरों में रहते हैं और जब-तब छुट्टियों में या किसी काम से देहात—अपने घर पर—कुछ दिनों के लिए आते हैं। मेरा जीवन दो तरह की दुनिया से होकर अपनी राह तय कर रहा है। एक ओर हलचल और कार्यक्रम और 'बच के बाबू' और 'हलो, यह श्रियुक्त क...बोल रहे हैं, शाम को गाड़ी जा रही है, आइएगा न ?' और पुस्तकालय और अखबार और साहित्य-चर्चा की शहरी दुनिया है जिसे आज ग्यारह वर्षों से झेलता आ रहा हूँ, दूसरी ओर यह शून्य, अलस, निर्विकार, 'एकरस दिन-रातों का देहाती संसार है जहाँ कार्य-व्यग्रता का अभाव कभी-कभी असह्य हो उठता है, जहाँ घर के सामने देवालय की घंटाध्वनि ही सायं-प्रातः जीवन की शिथिलता में विविधता का संचार करती है, या खेती-बारी की प्रिय-अप्रिय समस्याएँ मन को अपने में उलझा कर थोड़ी देर के लिए रेंगते क्षणों का दुर्वह भार हलका कर देती हैं; जहाँ अवकाश की घड़ियाँ बिताने को मैं सूनी कोठरी में बैठा, बादल भरे मटमैले आकाश को जब-तब निहारता, आटा पीसती हुई चक्कियों का अनवरत घिस-

ख सुनता ये पंक्तियाँ लिखने बैठा हूँ। इन दो संसारों में कोई समानता नहीं। पश्चिम के साहित्य में 'लीथी' नाम की एक काल्पनिक नदी का वर्णन आता है। 'लीथी' नदी मर्त्यलोक और स्वर्ग की सीमा पर अवस्थित है और मृत्यु के बाद दूसरे लोक को जाती हुई आत्माओं को 'लीथी' होकर ही जाना पड़ता है, जहाँ के जलस्पर्श के साथ-साथ पिछले जीवन की सारी अनुभूतियाँ उन्हें अकस्मात् विस्मृत हो जाती हैं। शहर और घर के बीच की राह में—वह राह जिसे तय करने का दुर्लभ सुयोग कभी-कभी ही प्राप्त होता है—मेरे लिए 'लीथी' नदी का काम करती है बैलगाड़ी की वह यात्रा, जिससे रेलवे-स्टेशन और घर के बीच के दस मील मैं तय करता हूँ। मेरी सुविधा की गाड़ी स्टेशन पर भरी रात को पहुँचा करती है। मैं बाहर आकर जरा खुले स्वर अंधकार में पुकारता हूँ : अमुक गाँव की बैलगाड़ी कोई आई है ? तब बरगद के एक पुराने घने पेड़ के नीचे बैलगाड़ियों के उस छायालोक से सहसा एक गाड़ीवान प्रकट होकर मुझे सलाम करता है, मेरे असबाब उठाकर गाड़ी पर रखता है, फिर मैं उस पर जा बैठता हूँ, तब पहले जरा जोर के दो-एक हचकोले लगते हैं और बाद एकरस चर्र-चर्र ध्वनि प्रारंभ हो जाती है और घंटियों के संगीतमय कंठनाद में आँखें मूँदे में पड़ा होता हूँ जहाँ विगत की अनुभूतियाँ मुझसे एक-एक कर छूटती होती हैं और दूर दिखलाई देती हैं प्रभात की सुनहरी किरणें... एक नवीन छटा... एक नया संसार।

अंग्रेजी की सुप्रसिद्ध कविता में एक जग-कातर युवक बुलबुल का गीत सुन स्वर्गलोक की कल्पना करता है, वहाँ पहुँचना चाहता है और उमे लगता है उसने बड़ी नशीली शराब पी है और वह 'लीथी' की ओर क्रमशः खिसक रहा है। मैं दैनिक जीवन के सिलसिले में जब-जब जग-कातर होता हूँ, मुझे लगता है मैंने महेन्द्र जहाज-घाट से अपने लिए एक रेलवे टिकट खरीदा है और बाद उसके मेरे गाँव का वह छोटा स्टेशन है और गाड़ीवान का वह सलाम, फिर बैलों की घंटियों की टिन-टिन, टुन-टुन और तब एक दूसरा संसार। कीट्स के 'ओड टू नाईटिंगेल' "बुलबुल के प्रति ओड"—की तरह मैं हिन्दी में "ओड टू दि बुलॉक्स बेल" ("बैल की घंटियों के प्रति ओड") की बात जोहवा हूँ।

डायरी के सम्पादित पृष्ठ

[नलिन विलोचन शर्मा]

एक

मैं डायरी रखता हूँ, लिखना नहीं। कुछ मित्रों से मिलती हैं, दूसरी अच्छी लगती तो खरीद लाता हूँ। फिर भी डायरी रखता हूँ, यह कहना शायद गलत होता। 'डेट्स' वाली बहुत छोटी डायरी रखता हूँ, यह जरूर ठीक है।

वह भी तब रखना शुरू किया जब देखा, व्यावहारिक जीवन में बड़ी दिक्कतें और हानि उठानी पड़ती हैं।

और फिर भी, इस छोटी डायरी में लिखी बातें भी, सौ में नब्बे, काम की तभी साबित होती हैं जब वे याद हों—यानी अगर वे न भी लिखी जातीं तो कोई हर्ज न था।

कहीं अंग्रेजी भाषा पर मथुर व्यंग्य करने हुए किसी लेखक ने अपने एक अल्प-वयस्क पात्र से कहलाया था—'इन शब्दकोषों से फायदा क्या! जब तक शब्दों का हिज्जे मालूम न हो तब तक उनका हिज्जे जानने के लिए उन्हें कोषों में ढूँढ़ा ही कैसे जा सकता है!' अंग्रेजी के शब्दों का हिज्जे है भी तो कुछ ऐसा ही! और तब यह भी सोचने लगता हूँ कि

उर्दू-फारसी में शब्द-कोष कैसे बनते हैं और बनते हैं तो उनका उपयोग क्या और कैसे होता होगा ?

अंग्रेजी के शब्दों के हिज्जे की बात आई तो उनके उच्चारण की विचित्रता के सम्बन्ध में एक लतीफा याद आ गया। (मैं अक्सर उसे याद कर आनन्दित होता हूँ—लतीफों की यही तो तारीफ है कि मधुर स्मृतियों की तरह याद आ-आकर मन में आनन्द का संचार कर जायँ ! एक दोष यह भी है कि अकेले बैठ कर आप ऐसी याद की वजह मुसकुरा रहे हों और कोई देख ले तो क्या कहेगा—यही तो कि शायद माथे के कील-काँटे ढीले पड़ रहे हैं !)। तो लतीफा—जिसे आपमें से बहुतों ने सुना भी होगा और, इसलिए उसे सुनने से आनन्द के बदले झुँझलाहट ही होगी। कल-परसों की बात है, खुद मुझे ही इस लतीफे को दूसरे के मुँह से सुनना पड़ा था। वे समझ रहे थे, वे नया लतीफा सुना रहे हैं; और इससे बढ़ कर उबानेवाली बात नहीं कि कोई सुने हुए लतीफे को सुनने के लिये ही नहीं, सुन कर हँसने के शिष्टाचार का निर्वाह करने को भी बाध्य हो ! लेकिन, तो लतीफा—एक अमेरिकन इंगलैंड घूमने आया था। उसका सबसे बड़ा सर-दर्द यह था कि इस देश की भाषा के शब्दों के रूप कुछ, और उच्चारण कुछ ! उसकी झुँझलाहट रोज बढ़ती ही जा रही थी। एक रोज जो बेचारे ने सिनेमा के पोस्टर में पढ़ा 'Scandal—Pronounced Success' तो यह ऊँट के लिये आखिरी तिनका साबित हुआ

और वह पहले सुलभ जज्ञ से अपने उस देश को वापस लौट गया जहाँ, इङ्ग्लैंड की तुलना में, कम-से-कम उच्चारण के सम्बन्ध में, अधिक उदार दृष्टिकोण है।

दो

मैं डायरी की बात कह रहा था। इस बार बहुत दिनों के बाद छोटी बहन आई। बड़े भाई को उपहार क्या देती—और देना चाहती भी थी। सो अपनी भाभी को उसने एक बड़ी-सी, नीले चमड़े की, खूब महँगी खूबसूरत डायरी, मेरे सामने ही दी। जब संपत्ति बहन की नहीं रह गई उसकी भाभी की हो गई, तो वह तत्काल मेरे द्वारा 'आयत्तीकृत' हुई। बहन प्रसन्न थी। वह जानती थी कि डायरी, इस तरह, भैया को मिल कर रहेगी ! पत्नी भी प्रसन्न ही थीं; हाँ, अप्रसन्नता का अभिनय जरूर कर रही थीं।

तीन

'आयत्तीकृत' ! जरा अप्रचलित शब्द है न ! पिछली बार इलाहाबाद गया था। हिन्दी आलोचना पर पं० हजारी प्रमाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० देवराज, श्रीप्रकाशचन्द्र गुप्त और इन पंक्तियों का लेखक (माचवेजी, जो वहाँ उपस्थित थे, के शब्द का इस्तेमाल करूँ तो) एक 'परिसंवाद' में भाग लेने, वहाँ पहुँचे थे। उसकी रेकार्डिंग के लिए जब हम स्क्रिप्ट तैयार कर रहे थे तो द्विवेदीजी ने 'आयत्तीकृत' इस शब्द का प्रयोग, प्रसंगवश, किया। डा० देवराज ने कहा, 'यह शब्द

तो जरा...।' इस पर पं० सुमित्रानन्दन पंत ने (वे परिसंवाद के निर्देशक थे) हँसते हुए कहा—‘तो बदल दीजिये न उसे ।’ द्विवेदीजी ने भी कहकहा लगाते हुए उत्तर दिया—‘भाई, अपनी आज की बातचीत में एक तो यही कुछ भारी-भरकम-सी चीज दी मैंने । इसे तो मैं नहीं हटाता !’ सो शब्द रहा ही, द्विवेदीजी के द्वारा पुनरावृत्त भी हुआ और इस तरह हल्के-हल्के कि उसे भारी-भरकम कौन कहेगा !

मैंने बगल में बैठे और, कहने की जरूरत नहीं, मेरे कारण प्रच्छन्न-प्राय अपने मित्र से कहा—कौन साहब थे; ठीक याद नहीं, और तब आप ही कहें, डायरी का लाभ क्या हुआ आखिर !—‘मुझे तो भारी-भरकम शब्द की भी जरूरत नहीं !’

मैं सोच कर पाता हूँ कि परिसंवाद के मेरे अपने अंश में एक दूसरा भी भारी-भरकम तत्व था । मेरी आवाज यों ही भारी है । उस दिन गला और भारी हो गया था । बीच में जितनी बार खाँसने की आवाज ने रस-भंग किया उसके अस्सी प्रतिशत के लिए मैं जिम्मेवार था, यह गोपन या रहस्य बता ही दूँ !

चार

इलाहाबाद और डायरी, जिसकी चर्चा अभी कर चुका हूँ, दोनों का सीधा सम्बन्ध भी है । ऊपर की पंक्तियाँ तो पढ़ने में अपने ‘त्रिशंकु’ नामक बैठकखाने में बैठा लिख रहा हूँ । (‘त्रिशंकु’ मेरा वह मध्याह्न मंदिर है जो, उससे परिचित जानते हैं, इस नाम को पूरी तरह सार्थक करता है) उस दिन

इलाहाबाद जंक्शन पर उतरने के बाद सुबह की चार और साढ़े पाँच की अवधि को वेटिंग रूम में तिल-तिल कर काटता हुआ क्यों उस नीली डायरी को निकाल कर कुछ लिख बैठा यह उस दिन, उस वक्त की लिखी पंक्तियों को पढ़ कर, अनुमान कर लें। अपनी डायरी के उन पृष्ठों से वे पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ।

ये पंक्तियाँ एक मुखाकृति के अंकन के चारों ओर बेतरतीब ढग से लिखी हुई हैं और जिस पृष्ठ पर ये लिखी गई हैं उसके बाद के पृष्ठ कोरे ही रहने चले गए हैं।

पंक्तियाँ :

“अभिव्यक्ति के माध्यम की वह असफलता जो आत्म-हत्या का दारुण क्षण उपस्थित कर देती है।...

“अनुभव की अभिव्यञ्जना के माध्यम को अधिकृत करना स्वयं अपने में बहुत बड़ी सिद्धि है, उदाहरणार्थ, इस वक्त मेरे सामने हजार में एक ‘माडल’ लाख में एक ‘पोज’ दिए बैठी है—संख्यातीतता इसलिए है कि मैं वेटिंग रूम में हूँ और यह सद्यः स्नाता नव-वधू मेरे सामने, प्रसाधनोपरान्त, गाड़ी की—या और किसी वस्तु की?—प्रतीक्षा में निमग्न है, यह नव-वधू—जो कुछ देर में चली जायगी। मैं समझता हूँ कि उसकी इस मुद्रा को रेखाओं में बाँधकर मैं अभिनव ‘मोनालिजा’ का निर्माता हो सकता हूँ। लेकिन माडल सामने है तो क्या तसवीर बन ही जाएगी? तसवीर का बनाना सीखना पड़ता है! सब-व्यर्थ!...”

मैंने पहले कोशिश की थी कि इस अलोकसामान्य, अप्रत्याशित 'माडल' और इसके खूबसूरत अभिभावक की आँखें बचा कर अपनी डायरी के सादे पृष्ठ पर अपनी कलम से 'माडल' की नुकीली मुखाकृति अंकित कर लूँ। इतना असाधारण विषय ! कुछ तो पल्ले पड़ ही जायगा ! लेकिन जो रेखाएँ मैंने खींचीं वे तो व्यंग्य-चित्र भी नहीं बन पाईं ! उनसे सुन्दर नारी-मुखाकृति की रेखाएँ तो मैं यों ही खींचता रहता हूँ ! ..

पाँच

मैंने इसके बाद इस डायरी में कभी और कुछ नहीं लिखा लेकिन, सोचता हूँ, अगले साल से, एक अच्छी डायरी मिल गई तो, नियमित रूप से ऐसी व्यर्थ की बातें रोज-रोज लिखूँगा। कुछ लेखों के लिए टिप्पणियाँ तो सुलभ हो जाती हैं।

खोयी हुई वस्तु की खोज

[लक्ष्मीकांत झा]

मेरी वस्तुएँ बहुधा खो जाती हैं। लोग कहते हैं, तुम बड़े असावधान हो, इसलिए तुम्हारी वस्तुएँ खोती रहती हैं। यदि तुम थोड़ा सावधान रहो, अपनी वस्तुओं को ठिकाने से सहेज कर रखो तो तुम्हें, जब देखो तब चिंतित न होना पड़े।

मैं मानता हूँ कि कभी-कभी किसी वस्तु के खो जाने से विशेष कष्ट होता है। कभी-कभी भोज में जी खोल कर भोजन करने से अपच भी हो जाता है। फिर भी हम भोजन को ठूसना नहीं छोड़ते। इसी प्रकार हम खो जाने के भय से वस्तुओं को ठिकाने से रखने की चिंता नहीं करते। आपने 'सौ वर्ष जीने का' अथवा 'अमर होने का' उपाय किसी-न-किसी पुस्तक में अवश्य पढ़ा होगा। आपने विचार करके देखा होगा कि अमर होने के लिये मनुष्य को ऐसे उपायों का अवलम्बन करना पड़ेगा कि उसका जीवन ही भार-सा हो जायगा। मुझे यदि उन उपायों का पालन साल भर भी करना पड़े तो मैं आत्म-हत्या करने पर उतारूँ हो जाऊँ, फिर सौ वर्ष अथवा अनन्तकाल तक जीने की तो बात ही छोड़ दीजिये। हाँ, तो आप जिस प्रकार इन पुस्तकों में वर्णित दीर्घायु-प्राप्ति के उपायों की चेष्टा नहीं करते, उसी प्रकार मैं भी

अपनी वस्तुओं को सँभालने के विषय में उपदेश सुन कर भी नहीं सुनता ।

जो लोग ऐसे उपदेश देते हैं, उन पर मुझे दया आती है, क्रोध नहीं । पर कुछ लोग हैं जिन पर मुझे क्रोध आता है । उदाहरण लीजिये । आप कार्यालय अथवा कॉलेज जा रहे हैं । ठीक चलते समय सहमा आग देखते हैं कि जेब में पेन्सिल नहीं है । आपने अपनी कोठरी में ढूँढ़ना आरम्भ किया । बड़ी चौकसी से अपनी कोठरी का कोना-कोना छान डाला । इसी समय आपका पुत्र या भाई आकर पूछता है—

“क्या ढूँढ़ रहे हैं ?”

“पेन्सिल ढूँढ़ रहा हूँ ।”

“जेब में नहीं है क्या ?”

अब आप ही सोचिये कि जेब में पेन्सिल रहने पर चारपाई के नीचे घुस कर कोई थोड़े ही पेन्सिल ढूँढ़ता है । वह फिर कहता है—“मेज पर देखो ।”

यदि इस बात पर भी आपको क्रोध न आए तो आप संसार में रहने योग्य नहीं हैं । आप कुछ बोलना ही चाहते हैं कि आपकी आँख घड़ी पर पड़ती है । आप देखते हैं कि बहुत विलंब हो गया है । ऐसे समय विवाद करना अच्छा नहीं । इसी समय पुत्र या भाई किसी काम से बाहर जाता है । आप पेन्सिल के ढूँढ़ने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं । दो मिनट के पश्चात् पुत्र या भाई आकर फिर पूछता है—“अब भी पेन्सिल नहीं मिली ?”

आप इस बार भी क्रोध को दबाये रहे। फिर दूसरा प्रश्न—
“कहीं कोट में तो नहीं रही? उसे तो अम्मा ने धोबी के यहाँ
भेज दिया।”

“नहीं, मैंने आज, नहीं अभी, आधा घंटे पहले उममे लिखा
है। बैगनी रंग की पेन्सिल थी। चार आने की थी।”

“अरे, ठीक याद आया। उसे मैं पानी में भिंगो कर टीका
लगाने ले गया था। अभी लाया।” यह कह कर पुत्र या भाई
चला जाता है। ऐसे समय आपके मन की दशा कैसी होगी, यह
आप स्वयं अनुमान कर लें।

एक बार मैंने नयी पुस्तक मोल ली। दूसरे दिन घर का
कोना-कोना छान डाला। रसोई घर भी नहीं छोड़ा। घर भर के
सभी लोगों ने हलचल मचा दी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कई दवातें उड़ेल
दीं, औषध की शीशियाँ फोड़ दीं, जिन पत्रों का उत्तर देना रह
गया था, उन्हें पुरानी चिट्ठियों में और जो पुरानी थीं उन्हें नयी
चिट्ठियों में मिला दिया, पुस्तकों की पेटियों में कपड़े और कपड़े
की पेटियों में पुस्तकें डाल दीं। सब कुछ किया, पर पुस्तक न
मिली। परीक्षा निकट थी। फिर दूसरी पुस्तक मोल लेने लपका।
कुछ दूर जाने पर मन में आया कि एक बार फिर घर में जा कर
खोज आऊँ। लौट आया। ऊधम और हलचल फिर दूसरी बार
हुई। अंत में निराश होकर फिर हाट गया। पुस्तक-विक्रेता ने
कहा—“बाह ! आप भी बड़े विचित्र जीव हैं। कल पुस्तक ली
थी, दाम दिये और पुस्तक यहीं छोड़कर चलते बने।”

यह सुन कर मेरे मन में जो प्रसन्नता हुई, उसके लिए मैं कुछ रुपये भी व्यय करने को प्रस्तुत-सा हो गया ।

जब आप किसी नये नगर में जाते हैं, तब अपने साथ पथ प्रदर्शक ले सकने हैं अथवा गलियों में भटकते हुए चकर काट सकते हैं । मुझे तो चक्कर काटना ही भाता है । ऐसा करने में आपको कुछ परिश्रम अवश्य पड़ेगा । पर दिन भर अपने डेरे के दस ही पग आगे से बीसों बार निकल जाने के पश्चात् सहसा अपने निवासस्थान पर पहुँचने में कितना आनंद होता है, इसे सब लोग नहीं जानते । दूसरा लाभ यह है कि कुछ भटकने से आपको नगर भी देखने को मिल जाता है । मैंने बहुधा देखा है कि किसी खोयी हुई वस्तु को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कोई पहले की खोयी हुई वस्तु भी मिल जाती है । उस समय मन में कितना आनंद होता है ! इस आनंद का अनुभव सब लोग नहीं कर सकते । जिनके यहाँ सभी काम नियम और क्रम से होते हैं, जो अपने घर की सभी वस्तुओं पर कारागार के बंदियों की नाई संख्या दे कर रखते हैं, उनके लिए तो यह आनंद असम्भव ही है ।

यह आनंद इसलिए नहीं होता कि खोयी हुई वस्तु के बिना हमारा काम नहीं चलता, अथवा वह मूल्यवती होती है । एक बार एक सज्जन ने मुझसे डाक घर में फाउंटेनपेन ले ली । इसके पश्चात् वे मुझे आज तक कहीं दीख भी नहीं पड़े । फाउंटेनपेन के लिये मुझे दुःख अवश्य हुआ, पर उससे कहीं अधिक दुःख उसके कारण मित्र खो जाने से हुआ । नयी पेन्सिल के खो जाने से

अधिक दुःख होता है। यदि मुझे वह फाउंटेनपेन मिल भी जाय तो उतना आनन्द न होगा, जितना किसी खोयी पेन्सिल के मिलने से होता है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि डाक-घर से निकलते ही मैंने फाउंटेनपेन की आशा छोड़ दी, पर खोयी हुई वस्तु के लिए तो 'जब तक साँस तब तक आस' रहती है।

यदि आपने कभी इस अनुभव का आनंद नहीं लिया तो एक बार अवश्य परीक्षा करके देखिये।

हमारे पड़ोसी

[श्री द्वारका प्रसाद]

अगर आप किसी के पड़ोस में पैदा हों या जा कर बस जायें तो मानी हुई बात है कि आपके कुछ पड़ोसी निकल ही आयेंगे।

पड़ोसियों के भी कई प्रकार होते हैं, जिनमें दो प्रकार के मशहूर हैं—एक तो वे जो सचमुच के पड़ोसी हैं और दूसरे वे जो बिल्कुल पड़ोसी नहीं।

जब मैं पहले बम्बई के बरसोवा के सात बँगला रोड के “सी-ज्यू” बँगला में पहुँचा तो अपने कम्पाउण्ड के साथ लगे हुए अरब-सागर को देख कर आप-से-आप एक खुशी की साँस निकल गयी।

बँगला ऐंग्लो इण्डियन परिवार का था, जिसका ऊपरी भाग हमने किराये पर लिया था। नीचे वे लोग स्वयं रह रहे थे। ऊपर जाने की सीढ़ी उनके बैठकखाने से होकर जाती थी।

दिन भर तो श्रीमती जी और हम लोग फर्नीचर वगैरह ठीक-ठाक करने में लगे रहे। पहला दिन था, नयी जगह थी, इसलिए करने को बहुत कुछ था। दस बजे रात को हम पलंग पर गये।

सर्दी कुछ-कुछ पड़ने लगी थी। दिन भर के थके-माँदे थे, जल्दी ही नींद ने आ घेरा।

कह नहीं सकता, कितनी देर तक सोये होंगे। एकाएक ऐसा लगा जैसे नीचे कोई दरवाजा तोड़ रहा है। नयी जगह थी, यहाँ के सम्बन्ध में हमारी जानकारी भी कम ही थी। मनमें थोड़ी चिन्ता हुई, आने के पहले इधर के पूरे हालात मालूम क्यों नहीं कर लिये थे।

और, तब ऐसा लगा, मानो चोर और हमारे मकान-मालिकों में भिड़न्त आरम्भ हो गयी है। मकान मालिक, बता चुका हूँ, ऐंग्लो इण्डियन थे। अब पता चला, वे समझदार भी हैं। कबल उसके कि हमारी तरफ के आदमियों की तरह चोर से मल्ल-युद्ध आरम्भ कर दें, उन्होंने बातचीत के द्वारा पहले सारा मामला तय कर लेना अच्छा समझा था। समझना भी चाहिए। राजनीतिज्ञ भी ऐसा ही करते हैं। लेकिन ठीक जिस तरह बातचीत के समय भी राजनीतिज्ञ यह जानते होते हैं कि इससे नतीजा कुछ निकलना नहीं, भिड़न्त होना ही है—बल्कि भिड़न्त के लिए ही बातचीत होती है—उसी तरह मैं भी समझ रहा था कि जल्दी ही बातचीत खत्म होकर लड़ाई शुरू होने वाली है। मैंने पहला मोर्चा इस बहादुरी के साथ सँभालने के लिये मन-ही-मन उन्हें धन्यवाद दिया और साँस रोक कर भावी की प्रतीक्षा करने लगा।

तब याद आया, ऐसे मौकों पर किसी साथी का बगल में होना लाभदायक होता है। साथी तो बगल में था जरूर, लेकिन खर्राटे ले रहा था। और, खर्राटे लेता हुआ साथी इन अवसरों पर बेकार होता है। इसलिए मैंने श्रीमती जी को जगा दिया। पूरी तरह उन्हें परिस्थिति की गम्भीरता समझा भी न सका था कि नीचे की बातचीत बन्द हो गई और तेजी के साथ सीढ़ियों पर चढ़ते हुए किसी के पैरों के शब्द नजदीक आने लगे।

मैं फिर साँस रोक कर प्रतीक्षा करने लगा कि एक अधेड़-सा आदमी ऊपर आ गया।

हमारे करीब पहुँच भी नहीं पाया था कि कहने लगा—“मैं क्लब से लौट आया तो अभी-अभी मालूम हुआ, आप लोग यहाँ आ गये हैं। आप पड़ोस में आये और मुझे खबर तक नहीं दी। लेकिन इसमें आपका दोष भी क्या हो सकता है?” कहते-कहते वह अन्दर आ गये और कोट उतार कर कुर्सी पर रख दिया।

“बैठिये, बैठिये” कहा उन्होंने, “मेरा नाम पटेल है, ए० जे० पटेल, लेकिन लोग मुझे दादा कहा करते हैं। घर आया, तो सुना आप आ गये हैं, तो कोट भी नहीं उतारा, इधर चला आया। आप इधर नये आदमी हैं। इधर का कुछ आपका जाना-पहचाना नहीं। नया घर बसाना है। मैंने मिट्टू की माँ से कहा, जरा चला ही जाऊँ। पड़ोस में नये आदमी आये हों और उनकी मैं कुछ सहायता न कर सकूँ तो मेरा होना न होना

बराबर है। इस पर वह मना करने लगी, कहा सुबह चले जाना। भला आप ही कहिये, मैं कैसे नहीं भावा ! मिट्टू की माँ की ऐसी सलाह क्या अच्छी कही जा सकती है ? कहिये आप ही ।”

मैंने देखा, मुझे मिट्टू की माँ की ऐसी सलाह पर मत प्रकट करना ही है। कहा, “हर्गिज नहीं” और मन ही मन उसकी बुद्धि की सराहना की !

“वही तो, मैंने भी कहा, और मैं यहाँ चला आया। अब बताइये आपको क्या तकलीफ है ?”

मैंने कहा, “जी, सब आपकी दया से ठीक है, हमें कोई तकलीफ नहीं।”

उन्होंने इसका घोर विरोध किया। कहने लगे, “आपका ऐसा कहना आपकी शराफत है। लेकिन आपको नये पड़ोस में कोई तकलीफ नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है ?”

मैंने भी सोचा, ऐसा कैसे हो सकता है, और श्रीमती की तरफ देखा। हम कुछ सोचने की हालत में नहीं थे। जब एक परोपकारी पड़ोसी हमदर्दी से भरा हुआ अपना विशाल हृदय लेकर ग्यारह बजे रात में आपको सोते से जगा कर आपकी तकलीफों को दूर करने की कोशिश कर रहा हो, उस वक्त आप कुछ सोचने की हालत में हो सकते हैं; यह उम्मीद करना फिजूल है।

और तब उन्होंने कहा, “आप लोगों ने चाय तो नहीं पी होगी ?

विचारे ! आपकी पत्नी भी बिल्कुल नयी हैं, विचारी को एक पूरा घर सँभालना भी क्या आता होगा ? और वह इस बड़े शहर में एकाएक आ पड़ीं । खैर, कोई हर्ज नहीं, दादा के पड़ोस में रहते उन्हें या आपको कोई कष्ट नहीं होगा ।”

यह तो हम भी समझ गये थे और भविष्य का चित्र आँखों के आगे बिठाने की कोशिश कर रहे थे ।

हमारे मना करने भी वे उठ गये । बोले, “आप इतमीनान रखिये, मैं बात-की-बात में चाय बनाये देता हूँ । भला, बिना चाय पिये भी कोई सो सकता है, वह भी नयी जगह में ?”

पटेल ने चाय बनायी, और बम्बई के जीवन के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें बताईं । मौसम कब अच्छा रहता है, कब बुरा रहता है; कब मफलर जरूर बाँधना चाहिए और कब खुले वदन भी रहा जा सकता है; किस-किस से दोस्ती करनी चाहिये और कहाँ-कहाँ जाना चाहिए वगैरह प्रायः काम की किसी भी बात का सम्पूर्ण ज्ञान देना नहीं छोड़ा । लगभग दो बजे रात को वे उठे । जाते हुए उन्होंने ‘शुभ-रात्रि’ कही और आश्वासन दिया कि हमें घबराने की जरूरत नहीं, सुबह सात बजे तक वे फिर आ जायँगे और सब ठीक कर देंगे !

पटेल के पड़ोसी-धर्म के पालन के तीन दिन भी नहीं गुजरे थे कि एक कवि जी आ जुटे । इस बीच पटेल से अच्छी तरह मालूम हो चुका था कि टोले-मुइल्ले वाले पटेल के स्वभाव की कितनी तारीफ करने हैं । उनका कहना है कि पटेल नहीं रहें तो

मुहल्ला उजाड़ हो जाय । और हम सोचते, क्या कभी ऐसा दिन भी आ सकता है जब सात बँगला रोड उजाड़ हो जाय ? लेकिन किसकी शुभेच्छाएँ पूरी हुई हैं कि हमारी ही होतीं !

कविजी पूरी तरह से कवि थे । नख-शिख जिधर देखते आप उन्हें कवि छोड़ और कुछ नहीं समझ सकने थे । पटेल ने ही उनका परिचय हमसे कराया था । मैं नहीं जानता था, रास्ते में गलती से भी किसी से यह कह देना कि कभी हमारी तरफ भी आइयेगा, सचमुच उसे अपनी तरफ ले आने की ताकत रखता है । मैंने तो शिष्टाचार के खयाल से कहा था । लेकिन अब पछता कर क्या हो सकता था ?

दो चार इधर-उधर की बातें हुई । पहली ही मुनाकात में श्रीमती को उन्होंने भाभी बना लिया और बड़ी बेतकलुफी से चाय लाने को कहा । फिर उन्होंने कहा, “तो आपकी भी साहित्य में अभिरुचि है । सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई । अभी रात ही मैंने एक कविता बनायी है । कविता क्या है...”

और उन्होंने वैसी तारीफ की जो कोई कवि ही अपनी कविता की कर सकता है । मैं इस प्रकार से अपने को अच्छी तरह सँभाल भी न पाया था कि उन्होंने कहा, “...तो सुनिये !”

नोटिस मिल चुकी थी और बगैर सुने छुटकारा नहीं था । मैं आँख मींच कर बैठ गया ।

समय का ज्ञान उस समय नहीं रह गया था, लेकिन ऐसा लगा, मानों अनन्त काल बीत गया हो और बगैर रुके बीतता जा

रहा हो । मैंने सोचा, एक बार आँख खोलकर देख लूँ, बाहर की दुनिया उसी रूप में है तो, जिसमें मैंने आँखें बन्द करने के पहले उसे छोड़ा था ! आँखें खोलीं तो सामने देखा—उससे सिहर उठा ।

कविजी के हाथ में एक पूरा पुलिन्दा पड़ा है । और कवि जी मुस्तैदी से उसे थामे पढ़े जा रहे हैं ।

“और सुनिये, कहा है...”

मैंने डरते-डरते पूछा “यह पहली ही कविता चल रही है या...?”

उन्होंने जवाब दिया, “यह तीसरी है । हाँ तो कहा है...”

मैंने फिर हिम्मत करके कहा, “अभी और कितनी है ?”

उन्होंने सांत्वना दी, “घबराइये नहीं, अभी तो आरम्भ है । हाँ तो कहा है...”

मैंने फिर आँखें बन्द कर लीं । हाँ, उन्हें बन्द करने के पहले श्रीमती जी की तरफ एक बार जरूर देख लिया और आँखों-ही-आँखों में यह कहने की कोशिश की कि मैं तो चला । अगर कविता समाप्त होने के बाद तक बचा रहा तो फिर मिलूँगा, वरना खुदा हाफिज !

तीन-चार घंटे बाद जब खाना खा कर कविजी विदा हुए तो डर के मारे यह भी कहने की हिम्मत नहीं पड़ी कि कभी-कभी आया कीजियेगा, यद्यपि यह अच्छी तरह याद था कि शिष्टाचार का तकाजा है कि ऐसा कहना चाहिए । क्या पता, कहीं मेरी

बात मान ही लें, कवि जो ठहरे । किसी की बात टाल कर उसका दिल दुखाना उन्हें कैसे पसन्द हो सकता था ? कवि भावुक होते हैं न !

दूसरे दिन 'अँधेरी' जानेवाली सड़क के नुकड़ वाली चाय की दूकान पर क्या देखता हूँ कि कवि जी खड़े हैं । “आइये, आइये, आपका ही इन्तजार कर रहा था ।”

लगा, कवि जी ज्योतिषी भी हैं, वर्ना वहाँ उन्हें मेरे इस समय आने का कैसे पता था कि इन्तजार करते होते ? कवियों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है । कहा भी है, जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि ।

“आइये, एकाध कप चाय पी लीजिये ।”

मैंने कहा, “जी, चाय तो मैं जरा कम ही पीता हूँ, और अभी चर्चगेट जा रहा हूँ ।”

“चाय न सही, दो एक केक ही सही । चर्चगेट तो कहीं भागा नहीं जा रहा है, अगली बस पकड़ लीलिएगा ।”

और मैंने लाख नाहीं-नाहीं की, वे हाथ पकड़ कर अन्दर ले हो गये । चाय आई, केक आये और मैं अपने आपको हिम्मत बैधाता हुआ आने वाली दुर्घटना के लिए तैयार करने लगा । ऐसा लगता था कि अब आई, लेकिन पता नहीं क्यों आ नहीं रही थी । प्राण छटपट कर रहे थे कि जब आने ही वाली है तो देर करके तड़पाने से क्या फायदा ?

और उन्होंने कहा, “आज सुबह चार बजे ही नींद खुल गयी। बड़ी मस्तानी हवा बह रही थी। आपने खयाल किया था ?”

मैंने कहा, “मैं खयाल नहीं कर सका, क्योंकि उस वक्त सोया हुआ था।”

उन्होंने कहा, “एक बड़ी चीज आपने मिस कर दी। खैर, आगे से चार बजे उठ कर देखा कीजियेगा। हाँ, तो भाव कुछ ऐसे उमड़े कि मैंने एक कविता बना डाली।”

और उनका दाहिना हाथ जेब में चला गया।

मैंने कहा, “कविता तो अवश्य बड़ी जोरदार हुई होगी। आज शाम को अवश्य सुनूँगा। सुनाना भूलियेगा मत। अब जरा मैं उठता हूँ, चर्चगेट जाना है।”

उन्होंने कहा, “शाम को क्यों, अभी सुनाता हूँ, छोड़िये चर्चगेट, न हो कल चले जाइयेगा।”

मैंने एक बार और कोशिश की। लेकिन उन्होंने झूम-झूम कर कविता पढ़ना आरम्भ कर दिया था। एक बार तो जी में आया, उठ कर चल दूँ। लेकिन उनके एक ही नहीं, दो-दो केक खा चुका था, क्या करता ? मन में थोड़ा दुःख हुआ। अगर केकवाले लोभ को समय पर दबा सकता !

तो दादा पटेल और कवि अर्जुन के अलावा और भी कई पड़ोसी एकत्र हो चुके थे। इनमें कुछ तो फिल्म आर्टिस्ट थे, कुछ दलाली का काम करते थे, कुछ नये आये हुए पंजाबी शरणार्थी

थे, जो टेलिफोन और “मर्करी” मोटरगाड़ी से नीचे की बात नहीं करते थे। नर और मादा, हर तरह के पड़ोसियों का जब एक पूरा जत्था नियमित रूप से हमारे यहाँ आमदराफत करने लगा तो एक दिन मैंने श्रीमती से कहा, “अब अगर पार्ले का टिकट कटाया जाय तो कैसा ?”

उन्होंने कहा, “अगर खुद नहीं कटाओगे तो जल्द ही सरकार की तरफ से काँके या बरेली का टिकट कट जायगा।”

पार्ले में हमने एक मकान ठीक कर लिया था। जिस दिन बरसोवा से चलनेवाला था, एक डाइरेक्टर भित्र आ पड़ें। उन्होंने कहा, “आज शनिवार है। रस में ‘ईवनिंग ब्यूटी’ का अव्वल आना जरूरी है। अगर हो सके तो पचास रुपये दे दोजिये, कल दुगुना दे जाऊँगा।”

मैंने सोचा, कुछ बहाना बना दूँ। लेकिन यह कला नहीं जानने के कारण चुपचाप दे देना पड़ा।

चलते हुए उन्होंने कहा, “दादा पटेल और अर्जुन ने आज हमें आपके ही यहाँ शाम की दावत दी है। वो जो मिस सरिता हैं न, वो भी साथ आयेंगी। अर्जुन जी ने नया काव्य लिखना शुरू कर दिया है, उसे ही सुनायेंगे।”

मैं प्रसन्नता जाहिर करते हुए कहा, “जरूर आइयेगा। और हो सके तो जनार्दन और रहीम को साथ लेते आइयेगा।”

“जरूर, जरूर। दादा पटेल ने पूछने को कहा था, आपको किसी चीज की जरूरत तो नहीं ?”

“नहीं, नहीं, सब आपलोगों की कृपा से ठीक है,” मैंने कहा और वे “बाई-बाई” करते चले गये।

मैंने श्रीमती से कहा, “इरादा तो था, शाम को ही चलेंगे। लेकिन उतनी देर इन्तजार करना खतरे से खाली नहीं। मैं चला टैक्सी लाने।”

जमुना के तीरे तीरे

[श्रीनिवास मिश्र]

जमुना के तीरे-तीरे चलता आ रहा हूँ । जल के रंग से खिंच कर मन पेरने को करता है, पर गहराई का आभास पाकर डग आगे नहीं पड़ता । इसी खींचातानी में किनारे-किनारे रमता आ रहा हूँ, कहीं सुघाट मिल गया और भली डेंगी मिल गयी तो दूसरा किनारा थाम्हे चलता रहा और लौट कर फिर इसी किनारे । उस किनारे जाता हूँ तो बबूल की छाँह मिलती है, करील के कुंज मिलते हैं और मिलते हैं कुश-परास, इन्हीं के साथ मिलती है कँटीले बबूल की मीठी गन्ध, तनिक भी नशीली नहीं, पर बड़ी शीतल और हियलगी; मिलती है पलाश की निर्गन्ध लाली, अपार्थिव तेज से डहडहायी, और मिलती है कुश की नुकीली हरीतिमा । पर गेहूँ की बालियों के झुमके नहीं मिलते, मटर के फूलों की नकबेसर नहीं मिलती, कचनार का लुटाया प्यार नहीं मिलता और सघन वंशीवट की स्निग्ध छाँह नहीं मिलती । मन मानता भी है तो रूप की ये जली आँखें नहीं मानती । इसीलिए थोड़ी देर घूम-घाम कर फिर इसी किनारे पलट आना पड़ता है ।

भले याद आयी, इस किनारे पर मिलता है दोआबा, गंगा-

यमुना का अन्तर्वेद, जिसमें छतियाफार अनाज उपजे, जिसमें अमराइयो की लहक से वायु पुलकित हो-हो जाय । याद आयी कि रूपकों के धनी तुलसी ने 'राम भगति' को 'वर सुरसरि धार' का साकार रूप प्रदान किया है, और साथ ही, उन्होंने 'ब्रह्म विष्णु के प्रचार' को सरस्वती का निराकार रूप प्रदान किया है । इन दोनों के बीच में—

करम कथा रविनन्दिनि बरनी ।

विधि निषेधमय कलिमल हरनी ॥

पूरी अर्द्धाली जोड़ी गयी है, कर्म के श्यामल सौन्दर्य को आत्मसात् करने वाली यमुना के लिए । विधि-निषेध से पुण्य-पाप, सुख-दुख और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों का संकेत मात्र किया गया है, पर 'कलिमलहरनी' कहने का स्पष्ट अभिप्राय है कि कर्ममार्ग ही कलिमल हरण करने में समर्थ है, क्योंकि यही राजमार्ग है । इससे दिनलगाव जितना हो, पर रास्ता सीधा है, कटाव-घुमाव नहीं है । इस नदी में छिछलापन नहीं है, मजे में नाव आ-जा सकती है, गहराई है, कुंड हैं, पर तोड़मार धारा नहीं है, घुमरीदार भँवर नहीं है, पानी का बहाव मन्द है, एक बार तैरना आ जाय तो फिर विश्वस्त होकर धारा को पकड़े आदमी आगे बढ़ सकता है । जल सघन नील होते हुए भी अत्यन्त पारदर्शी है । जल की भीतरी सतह तक झलझल-झलझल दिखायी पड़ जाती है । कर्मपथ में भी अणु-अणु का दर्शन हो सकता है । इस पथ में त्वरा नहीं है, गहनता है, पर

भय नहीं है। बस अभ्यास की जरूरत पड़ती है। ऊपर निबिड़ संघर्ष का अन्धकार होते हुए भी भीतर शीतल शान्ति का आलोक बना रहता है।

जाने कब से बराबर जमुना की धारा धरे चलता आ रहा हूँ। बीच-बीच में दूर नीचे से किसी भिन्न कलकल की गूँज भी सुनाई पड़ी है, कई बार उसके पीछे भटकते-भटकते छिछली खेलने लगा हूँ, पर वह कल-कल ध्वनि बराबर कुछ देर के बाद आप-से-आप खो जाती रही है। चिन्तन के ऐसे उलझे क्षणों के बाद क्लान्ति और विवशता के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा है। कई बार मुझे याद है, मैंने हाथ से डाँड़ छोड़ कर नाव टिका दी है और अपने मन से नाव किसी अनजान कुघाट पर आकर लग गई है, मैं अपने में खोया हुआ एका-एक चौँककर जग पड़ा हूँ। तब मेरा ज्ञान घाट पर सिर धुनती हुई लहरों के साथ चूर-चूर होता रहा है, अपने को नियन्ता समझने की अहंता लौटती लहरों के साथ डूब जाती रही है।

पर यह जली रेतीली सरस्वती का विश्राम बहुत बड़ा अभि-शाप है। मैं आज युगों के बाद भी पीछे मुड़ कर देखता हूँ तो लगता है कि जहाँ से चला था, वह जगह ही मानों इसी बीच आगे बढ़कर आ गयी है, मैं उसके आगे नहीं बढ़ सका हूँ। प्रगति का यह धीमापन उस जली रेतमयी को प्रसादी है। कुछ रेगिस्तानी बालुओं में से भी ऐसा लुभावना मधुर संगीत

कभी-कभी निकला करता है। वह संगीत मरीचिका से भी अधिक खिजाने और पगलाने वाला होता है, क्योंकि रसना से श्रुति का महत्व जो अधिक होता है। मेरी पीछे की चली हुई कश्तियाँ आगे का क्षितिज पार करके ओझल हो गयीं, पर मैं अभी लगभग जहाँ का तहाँ। यह मेरे ज्ञान की 'नसावनी' भूख जिसे अपने सन्तोष के लिए साधना भी कह लेता हूँ, मुझे 'सुन्न' बनाती जा रही है। और यह ज्ञान देता क्या है—निराशा, हीनता, ग्लानि, अनुताप और उदासी। हाथ अपने जी भर डाँड़ चलाते रहते हैं, पर मन पीछे किसी कछार में दुःस्वप्नों में उलझा पड़ा रहता है। कर्म के तुमुत संकुल के बीच उत्साह के साथ ठेला-ठेली करते हुए भी भीतर निष्फलता की भावना सुबकती रहती है।

जिन्दगी में ऐसे मोड़ एक वृत्त बनाकर मेरी आँखों के सामने नाच रहे हैं। बचपन में, दूसरों के मुख से ही सुना है कि जज बनने की बात मैं किया करता था। उस माने में जज तो नहीं बना, पर यह इच्छा अनचाहे रूप से यों पूरी हुई कि मैं अपने ही भाव-कुभाव का बहुत कच्ची उम्र में ही जज बन बैठा और मन में तीन व्यक्तियों की स्थापना हो गयी। इस जज ने प्रायः भीतर झमेलों को निबटाने के बजाय और अधिक उलझाया ही है, जिससे अन्तर्द्वन्द्व ने नया-नया रूप धारण किया है। और घूम-घाम कर मैं फिर पृथ्वी को गोल सिद्ध करने के लिए वहीं का वहीं मौजूद हूँ ! इसलिये मैं कहता हूँ कि कर्म-पथ में सबसे

अधिक भय मनुष्य को अपने ज्ञान से है। ज्ञान से बढ़कर कोई भ्रामक तत्व इस पथ पर है ही नहीं।

एँ ! बुद्धिवाद के इस युग में ऐसी बात ? हाँ बुद्धिवादी युग स्वयं विमूढ़प्राय हो गया है, उनके पैरों में अपनी ही बनाई बेड़ी लग गयी है। मैं जो कह रहा हूँ वह भासपास की गर्दनतोड़ घुड़दौड़ को देख कर कह रहा हूँ। इस घुड़दौड़ में जो अन्धा-धुन्ध घोड़ा दौड़ाये चला आ रहा है, वही आगे निकल पा रहा है, कलाबाजी करने वाले सवार पीछे रहे जा रहे हैं। विवेक का जो सहारा ले रहा है, वह विवेक भर के लिए हो रहा है। अपनी कर्मगा यमुना में ही देखता हूँ, जो बचा के अपनी नाव आगे की ओर निकालना चाहता है, वह पीछे रह जाता है और जो दूसरों को ढकेलते हुए किसी नाव के डूबने आदि की परवाह न करते हुए अपनी बिजली-डेंगी चीरता चला जाता है, वह नौका-दौड़ में विजय-पदक प्राप्त कर रहा है। बुद्धिमान् लोग इसी को 'योग्यतम का अतिजीवन' (सर्वाइवल आफ दी फिटिस्ट) कहते हैं। डार्विन का सिद्धान्त है, कुछ मजाक थोड़े ही। परन्तु वह बुद्धि का भी कुछ मूल्य है कि नहीं, यह प्रश्न स्वभावतः उठेगा। इसके जवाब में भी बोलने वाले बोल उठेंगे— बुद्धि का अर्थ है, व्यवहार बुद्धि, उसका अर्थ निर्विकल्प ज्ञान नहीं है, और व्यवहारबुद्धि का सीधा सादा अर्थ है 'काँइयापन', जिसके अनुसार उचित-अनुचित के विवेक का पैमाना बन जाती है मनमानी।

यह भी लोग कहते हैं कि धूर्तता की बढ़ौलत ही मनुष्य अपने से विशाल और शक्तिशाली प्राणियों को भी परास्त करके सृष्टि में मूर्धन्य बन गया है, स्वयं मानव जातियों में ही जो जाति जितनी ही महीन चतुराई में अभ्यस्त रही है, वह उतनी ही आगे बढ़ती गयी है। सिधाई और सचाई के पीछे भटकने वाली जाति विलुप्त हो गयी है।

अब प्रश्न यह है कि धूर्तता को ज्ञान की कोटि में रखा जाय कि नहीं और यदि रखा ही जाय तो क्या आगे बढ़ना ही एकमात्र सफलता का माप-दंड है ? ये जिज्ञासायें उठती हैं, पर इनका ठीक-ठीक सामाधान नहीं मिल पाता। कर्म की गहराई आज तक थाही न जा सकी। साध्य बड़ा कि साधन, सिद्धि बड़ी की साधना, या सागर बड़ा कि नदी, इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर मिल न सका। प्रत्येक युग में इन प्रश्नों की मीमांसा करने का प्रयत्न हुआ है, पर कभी कवियों की किसी एक उत्तर पर राय एक नहीं हो सकी है। सीधी-सी बात जानता हूँ कि यमुना की धार में जीवन-नौका छोड़ दी है, अनेक मानसिक क्लान्तियों एवं विरसताओं के बीच हार-थक कर इसी धारा में पड़ा रहा, बीच-बीच में एक से एक चमकीली उप-धारायें आयीं, बहुतेरे साथ के मौझी उनको धरे-धरे ऊपर चढ़ गये और बीच-बीच में गन्दी मोरियाँ मिलीं, कुछ साथी उनकी ओर खिचकर नीचे चले गये, कर्म पर चलते रहने की अपेक्षा उन्हें नरकों में धँसना ही सुकर लगा,

परन्तु मेरी तरी निश्चल गति से यमुना के मझार में हो पड़ी रही ।

सुना है कि यमुना और यमराज में भाई-बहन का नाता है । शुभ-अशुभ और विधि-निषेध की थप्-थप् इसीलिए इस धारा में एक क्षण भी बन्द नहीं होती । भाई अनेक लेखा-जोखा के ठेकेदार जो ठहरे ! एक बार थप्-थप् से, इसीलिए, इस धारा में कान परच जाते हैं तो फिर बाद में इनके बिना जीना दूभर हो जाता है; यह ध्वनि प्राणा में बस-सी जाती है । इस ध्वनि के आगे दूर से आती हुई गंगा की हहकार अधिक विमोहिनी हो, पर आप्या-यिनी नहीं है । जब नाव को प्रतिकूल पवन मिला है, तो उस पवन के साथ जूझते हुए मैंने वह जरूर सुनी है । जब प्रतिकूल परिस्थितियों ने मुझे झकझोरना चाहा है, झकझोर कर मेरी नाव उलटनी चाही है, तब उस हहकार का उद्दाम आमन्त्रण अनचीते ही मिला है । उस समय भक्ति-प्रवाहिनी अपने अंत-श्रवणों के समीप उमड़ने लगी है और अपनी नाव से बचे रहने के नाते अपनी धार में न फूट सकी हो, यह दूसरी बात है पर आमन्त्रण ने ऐसी लवलीनता ला दी है कि उलटी बयार का वेग कुछ जान ही नहीं पड़ा है और उसकी चोट मैंने फूल की तरह ओढ़ ली है । विरल क्षणों का मैं आभारी हूँ, क्योंकि मैं-अपने आप तो उस सुरसरिता की धार पाने को कौन कहे, चाहने से भी रहा, पर जो अनमौंगे, बेबुलाये वह अपना दुलार भरा सन्देश भेजती है तो मैं हृदय से उसकी कृतज्ञता कैसे न

मानूँ ? कौन जाने, यह कुशलता ही कभी. मन में वहाँ तक पहुँचने की उन्मादिनी प्रेरणा बन जाय और तब वह रोके न रुके—जब तक उस धवल धार में लीन न हो जाय !

सुनता हूँ, उस धारा में एक बार आदमी उतर जाय तो बस उसे हाथ-पाँव हिलाने की कोई जरूरत नहीं रह जाती, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रपंच नहीं रह जाता, शुभ-अशुभ का बोध नहीं रह जाता, सुख-दुःख की अनुभूति नहीं रह जाती, सब कुछ धारा में समर्पित हो जाता है। हाँ, उस धारा में उतरना कठिन है, इतने लुभावने और डरावने अन्तराय हैं कि वहाँ तक पहुँचना खतरे से खाली नहीं है। मेरे जैसे भीरुओं के लिए वह रास्ता नहीं है। जिनको अपने पाप-पुण्य से चिपकाव होगा, वह उस धारा में कूदने का साहस नहीं करेगा। जो अपने प्राणों का मोह छोड़ कर ऊँचे कगार से कूद जाने का बस एक बार साहस कर सके, उसी की वह धार है। उस धार में कूदने वाला स्वयं नौका बन जाता है, उसे ले जाने के लिए किसी दूसरी नौका की आवश्यकता नहीं रह जाती।

पर जाने दो, जो मेरे प्राण्य नहीं है उसकी चर्चा क्यों करूँ, इसलिये कि बहुत मीठी है, चोरी की प्रीति की तरह, लोभी के दाम की तरह ? न-न-न, मेरी यह चिरपरिचित चिरचलित धार ही बहुत अच्छी है। भले ही इसके दोनों ओर करील ही करील हों, भले ही इसकी धारा में विरसता की जड़ता हो, भले ही इसकी लीक लहरदार न हो, पर उसके श्यामल रंग के प्रसार में

जो सौन्दर्य है, मैं उसी पर मुग्ध हूँ। अपने बहुधन्वीपन में मैं इस सौंदर्य के प्रति अन्धा हो जाऊँ, यह मेरी अपनी चूक है। मैं बीच धारा पकड़ के नहीं चलता, यह मेरी अपनी दुर्बलता है। स्थिर और निश्चित सिद्धि के लिए मेरा जो लोभ है, उसीके कारण तो एक-एक पग दूभर हो गया है। पर इस थकान में भी जमुना के तीरे चलते रहने का अपने आप क्रम बना हुआ है। वह कम नहीं है। यों तो अपने नसीब के नाम पर कल्पना मानव स्वभाव है, उसके लिए मैं क्या कहूँ ?
